मध्ययुगीन निर्गुण चेतना

डॉ० धर्मपाल मैनी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
गुरु नानक विश्वविद्यालय अमृतसर

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१

मूल्य १५ रुपए

१६७२

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद १

मुद्रक
लेटेस्ट प्रिंटर्ज
६/४ कनॉट सर्कस जालन्धर १
फोन ६४५०

MADHYAYUGIN NIRGUN CHETNA

by

DR DHARAMPAL MAINI
Head of Hindi Deptt
Guru Nanak University Amritsar

मेरे अंतमन में मध्ययुगीन चेतना को
अंकुरित करने वाले पूज्य पिता
के नाम जो उसे विकसित
होता न देख सके ।

विषय-सूची

भूमिका

संस्कृति क्या है और उसके विधायक तत्व क्या हैं, यह एक बहुत पेचीदा प्रश्न है। संस्कृति की सर्वथा पूर्ण और दोषहीन परिभाषा करना सरल कार्य नहीं है। संस्कृति जन्मजात, वंश परम्परा से सहजात संस्कार है या प्रशिक्षित विकास की सरणि है जिसके द्वारा व्यक्ति आत्म संस्कार करता हुआ उत्कर्ष पथ पर अग्रसर होता है, यह विवादास्पद है। जो लोग संस्कृति को परम्परानुगत वंश-संस्कार मानकर आभिजात्य को संस्कृति का द्योतक मानते हैं वे ज्ञान विवेक, अनुभव, परिष्कार आदि को भी कुलीनता से सम्बद्ध समझते हैं, किन्तु दूसरे वर्ग के लोग संस्कृति और वंश परम्परा का ऐसा अटूट सम्बन्ध नहीं मानते। संस्कृति व्यक्ति विशेष के द्वारा विकसित और अर्जित की जाती है अतः कुल, वंश, जन्म, परिस्थिति आदि के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

कुछ विद्वानों की ऐसी भी धारणा है कि संस्कृति प्रतिभा या ईश्वरीय देन है। प्रत्येक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को इसीलिए वे सुसंस्कृत मान लेते हैं। संस्कृति के स्वरूप को परिभाषित करने पर ऐसे भी व्यक्ति देखने में आते हैं कि जो कला, ज्ञान, विज्ञान और साहित्य क्षेत्र में अद्भुत प्रतिभाशाली होने पर भी हम उन्हें संस्कृत नहीं मान सकते। उन व्यक्तियों की दिनचर्या और रहन-सहन इस प्रकार का पाया जाता है कि उनमें संस्कृति के साधारण लक्षण भी नहीं होते। उनका अपना अहंकार ही उन्हें असंस्कृत और अशिष्ट बना देता है। अतः संस्कृति के निर्माण के लिए धन-वैभव, सम्पत्ति, प्रभुता क्षमता प्रतिभा, विद्या, कला, ज्ञान विज्ञान आदि सम्पन्न होना मात्र पर्याप्त नहीं है।

आधुनिक युग में ललित कलाओं के विकास के साथ संस्कृति का अपरिहार्य सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा है। आजकल हमारे देश में तो संस्कृति-

सामान्यतः शब्द को इसी सीमित कलात्मक प्रभाव के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य आदि के परिवेश में संस्कृति सीमित कर दी गई है और इस प्रकार सामाजिक आर्थिक दृष्टि से संस्कृति को स्वीकार कर लिया गया है। व्यक्ति के मानसिक आध्यात्मिक विकास के साथ उसका गहरा सम्बन्ध जुड़ गया है। वस्तुतः व्यवहार या प्रयोग की सीमा के कारण संस्कृति को सीमित नहीं किया जा सकता। संस्कृति किसी बाह्य प्रभाव चाहे वह कलात्मक प्रभाव ही क्यों न हो, तक ही सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्ति-संस्कार के साथ गहरा और अटूट सम्बन्ध है। व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके विकास और परिष्कार के लिए किये गए प्रयासों में संस्कृति की खोज एक सीमा तक संस्कृति की सही खोज की जाती है।

भारतीय नीति चिन्तन में संस्कृति के निर्माण के प्रयासों का यदि सर्वेक्षण किया जाय तो आत्म-कल्याण का बीज भी समाज-कल्याण में ही निहित मिलेगा। ऐसा कोई काम संस्कृत व्यक्ति को नहीं करना चाहिए जिसे वह अपने प्रति सहन नहीं कर सकता। अर्थात् महाभारत की सूक्ति संस्कृति का मेरुदण्ड है—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' सुप्रसिद्ध विचारक काट ने भी इसी विचारधारा को संस्कृति का मूलाधार बताया है। दूसरी बात पर भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने बल दिया, वह है—जीवन में आचरण की पवित्रता। अर्थात् मनसा वाचा, कर्मणा, सत्य की प्रतिष्ठा। आचरित सत्य की परीक्षा एक ही कसौटी पर होती है वह कसौटी संस्कृति की है। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म में साम्य नहीं रखता उसे विद्वान होने पर दम्भी, धनवान होने पर भी लालची, प्रतिष्ठित होने पर भी अहंकारी, कुलीन होने पर भी अकुलीन ही समझा जाता है। अतः संस्कृति का धन, वैभव मान मर्यादा, विद्वत्ता, पांडित्य, अनुभव, वैदुष्य और विवेक के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। जो व्यक्ति इन गुणों से रहित होते हैं वे भी सुसंस्कृत और अधिक सभ्य हो सकते हैं।

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति-संस्कार पर अधिक बल इसीलिए दिया जाता रहा है कि वंश परम्परा या आभिजात्य के सम्बन्ध को ही संस्कृति का आधार न समझ लिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र एकांगी मानकर पहले परिष्कृत करे, तदनन्तर समाज से सम्पृक्त होकर उसके स्वस्थ निर्माण का प्रयास करे। व्यष्टि निर्माण के भीतर ही समष्टि निर्माण का प्रयत्न होना

अभीष्ट है। व्यक्ति के सुसंस्कृत होने के लिए आत्म-संयम, अपरिग्रह, तितिक्षा सत्य, सेवा, त्याग, बलिदान, समता, प्रेम, करुणा आदि भावों को प्रमुख स्थान दिया गया है। जो व्यक्ति दूसरों के लिए अधिक से अधिक कष्ट उठाकर जीवन यापन मे विश्वास करता है वह अपरिग्रही तो होता ही है साथ मे तितिक्षा से भी आत्म-दमन सीखता है। इस भावना मे ही समस्त वसुधा को कुटुम्ब समझने को प्रश्रय प्राप्त होता है और परपीडा को आत्म पीडा बना कर मुक्ति का मार्ग खोजने की संस्कृति जन्म लेती है। पराई पीडा के समझने वाले ही वैष्णव जन हैं, संस्कृत व्यक्ति हैं, यह भारतीय मनीषा का उदार उदघोष है। राम का वन वास, और कृष्ण का कंसादि राक्षसो का दमन प्रतीकात्मक शैली से सुसंस्कृत महापुरुषों के स्वस्ति भाव से किये गये दुर्द्धर्ष प्रयास हैं। दुष्कृतो का विनाश सुकृतो की रक्षा, धर्म की संस्थापना आदि विशेषण उन्हीं महापुरुषों के संदर्भ मे प्रयुक्त हुए हैं जो संस्कृति के शाश्वत यान को युग युगो तक बढ़ाने लाये हैं। आज के युग मे भी महान् वैज्ञानिकों का मानवता के कल्याण के लिए आत्म बलिदान, राजनीतिज्ञों का राष्ट्र के लिए उत्सर्ग, समाज सुधारकों का समाज के लिए समर्पण और साहित्यकारो का मानव की विचारधारा के परिष्कार के लिए जन संस्कृति विकास की परम्परा में आने वाले अनुकरणीय कार्य हैं।

संस्कृति के विवेचन मे यह प्रश्न अनेक बार उठाया जाता है कि क्या किसी देश और जाति की अपनी विभिन्न संस्कृति होती है। क्या भौगोलिक परिवेश एव सामाजिक परिस्थितियों से राष्ट्रीय अथवा जातीय संस्कृतियों का निर्माण होता है? वस्तुत प्रश्न के मूल मे जो भावना सन्निविष्ट है वह संस्कृति के एक विशेष संदर्भ से सम्पृक्त है अर्थात भारत मे भारतीय संस्कृति यदि है तो क्या वह विश्व संस्कृति से सर्वथा भिन्न कुछ संकीर्ण सीमित वस्तु है? हमे यह स्वीकार करने मे संकोच नहीं करना चाहिए कि संस्कृतियों के निर्माण मे एक सीमा तक देश और जाति का योगदान रहता है। यह योगदान एक ओर संस्कृति को सीमित बनाता है तो दूसरी ओर अपनी राष्ट्रीय एव जातीय परम्परा से जुड़कर उसे परम्परा से विच्छिन्न नहीं होने देता। आज के युग मे जबकि राष्ट्रीय एव जातीय संस्कृतियों के मिलन के अवसर अति सुलभ हो गये हैं, संस्कृतियों का संघर्ष भी शुरू हो गया है। कुछ ऐसे प्रभाव हमारे देश पर पड़ रहे हैं जिनके आतंक ने हमें स्वयं अपनी संस्कृति के प्रति अनास्थावान बना दिया है। यह हमारी वैचारिक दुर्बलता का फल है। अपनी संस्कृति को अस्वीकार करके विदेशी संस्कृति को बिना सोचे-समझे ग्रहण करने की प्रवृत्ति से देश

के राष्ट्रीय गौरव का जो ठग लगी है वह किसी भी जागरूक व्यक्ति से छिपी नहीं है। विदेशी संस्कृति के गुणों को आत्मसात करने की प्रवृत्ति की मैं निन्दा नहीं करता किन्तु जो अपनी सांस्कृतिक जड़ों को बिना पकड़े विदेशी संस्कृति को आत्मसात करने का स्वप्न देखता है वह दया का पात्र है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य की आलोक प्रदायिनी किरणों से पौधे को चाहे जितनी जीवन शक्ति मिले किन्तु अपनी जमीन और अपनी जड़ों के बिना कोई पौधा जीवित नहीं रह सकता। भारतीय संस्कृति में ग्रहण और त्याग की अद्भुत क्षमता रही है, अतः आज के वैज्ञानिक युग में भी वह जीवन्त तत्वों के ग्रहण करने में पीछे नहीं रहेगी।

एक भ्रान्त धारणा यह भी बन गई है कि भारतीय संस्कृति धर्माश्रित है और उसका आधार विवेक न होकर अंधविश्वास है। भारतीय संस्कृति में धर्म की स्वीकृति है किन्तु धर्म किसी संकीर्णता या अन्धविश्वास का बोधक नहीं है। भारतीय संस्कृति में सहनशीलता को व्यापक परिधि में ग्रहण किया जाता रहा है और इसी का परिणाम है कि इस देश में अनेक जातियाँ और अनेक धर्म आते रहे किन्तु उनसे प्रभावित होने पर भी भारतीय संस्कृति विलीन नहीं हुई। आदान प्रदान की प्रक्रिया द्वारा भारतीय संस्कृति अपने स्वरूप को बनाये रही और अनेकता में एकता की जैसी स्थापना इस देश में हुई वैसी विश्व के किसी अन्य देश में न हो सकी। भारत की धर्मप्रायणता से न तो इस्लाम को ठेस पहुंची और न ही ईसाइयत को कोई हानि हुई। मुसलमान और ईसाई अपने अपने धार्मिक विश्वासों के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक पोषक तत्वों से समृद्ध होते रहे। आज के वैज्ञानिक युग की प्रगति को भी भारतीय संस्कृति शनैः शनैः आत्मसात करती जा रही है और मानव-मस्तिष्क की वैचारिक स्वाधीनता में उसका विश्वास बढ़ता जा रहा है। किन्तु भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि वह विज्ञान को विनाश की ओर जाने से निरन्तर रोकने का प्रयास करती रही है। धर्म और अध्यात्म द्वारा वह जन-जीवन को आश्वस्त बनाने में सफल है यही भारतीय संस्कृति की विशेष देन है।

प्रस्तुत ग्रंथ में डा० धर्मपाल मैनी ने भारतीय संस्कृति तथा उसके साथ इस देश के प्रदेशों की संस्कृतियों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। भारतीय संस्कृति के आधार बिन्दुओं का चयन उन्होंने परम्परागत स्रोतों से किया है किन्तु उनकी दृष्टि में वैज्ञानिकता है। रूढ़ और जड़ मान्यताओं को

उन्होंने स्वीकार नहीं किया। पंजाब की प्राचीन संस्कृति तथा बाण कालीन संस्कृति शीर्षक लेखों में सूक्ष्म दृष्टि से प्रदेश और काल विशेष की संस्कृति के तत्वों का चित्रण किया गया है। डा० सैनी ने किसी पूर्वाग्रह को स्वीकार नहीं किया है वरन संतुलित विवेचन द्वारा संस्कृति तथा सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डालने का स्तुत्य प्रयास किया है। मैं डा० सैनी के इन निबन्धों को मौलिक एवं तत्व चिंतन पूर्ण समझता हूं और मुझे विश्वास है कि इन निबन्धों से प्रतिपाद्य विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ेगा, स्व संस्कृति के प्रति अटूट आस्था रखते हुए ही डा० सैनी ने इस विषय का चयन किया है ऐसा मुझे उनके निबन्धों को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत हुआ।

(डा०) विजयेन्द्र स्नातक
आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

• • • परिचय • • •

विगत 20-25 वर्षों से सत काव्य के माध्यम से मैं मध्ययुगीन निगु ण चेतना को समझने का प्रयत्न करता आया हू, लेकिन आज भी उसके स्वरूप का बोध हा सका हो, ऐसा अनुभव नही होता। शायद ऐसा इसलिए भी हो कि उस चेतना की अनुभूति के लिए उसमे जीना आवश्यक होता हो, जो आज के बौद्धिक एव वैज्ञानिक युग मे बहुतायत से नही हो पाता। फिर भी हम उसे अपने बौद्धिक प्रयत्न से पा लेना चाहते हैं। लगता है, यह कृति भी ऐसे ही एक अपरिपक्व प्रयत्न का परिणाम है।

मध्य-युगीन चेतना को समझने के लिए भारतीय सस्कृति के आधार का बोध आवश्यक है। उत्तर भारतीय समाज मे सस्कृति प्राचीन काल मे और मध्य युग के आरम्भ मे कैसे रूपायित हुई ? इसका बोध होने पर ही हम उसकी चेतना के निकट पहुच सकते हैं। पहले तीन निबन्ध इसीलिए यहा स्थान पा सके हैं। इस युग के निगु णिया सतो के प्रखर व्यक्तित्व और उनके सशक्त चिन्तन ने अपन युग क समाज को किस प्रकार आन्दोलित किया, इसका लेखा जोखा उनकी चैतन्य चेतना का दशन करवा सकता है। शेष निबन्धो के माध्यम से यही प्रयत्न किया गया है जिनका समाहार 'मध्ययुगीन निगु ण चेतना नामक निबन्ध मे हुआ, जो कृति का अभियान भी बन बठा।

गुरुवर आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'मध्यकालीन बोध को समझाने क लिए पजाब विश्वविद्यालय की प्राथना पर कुछ वष हुए पाच व्याख्यान दिए थे, जो बाद म 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप नाम से उन्होंने प्रकाशित भी किए हैं। उनके व्यक्तित्व की तरह इस कृति म भी मध्ययुग का प्राण-तत्व ध्वनित होता है। उन्होने सैद्धातिक एव मूल भूत तत्वो का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि निगु ण सगुणातीत है। यहा केवल निगु ण-चेतना को उभारने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने अमूत्त को मूत्त किया

है और यहां की गई है मात्र सूत्रों की व्याख्या। उन्होंने सूक्ष्म के सौन्दर्य का पान कराया है, यहां प्रयत्न किया गया है मात्र स्थूल के स्पष्टीकरण का। किं बहुना।

मध्य युगीन बोध के वे ही मेरे गुरु हैं। यदि यह कृति उनकी दिशा में एक छोटा सा प्रयास है, तो भी मुझे संतोष है और यदि मध्य युग की निर्गुण चेतना के जिज्ञासु के लिए उपादेय सिद्ध होती है तो और भी अधिक संतोष होगा। सबसे अधिक संतोष होगा, उन विद्वद्वरों की प्रतिक्रिया जानकर जो इसे पढ़ने का समय निकाल सकेंगे।

विनीत

धर्मपाल मैनी

1 वैशाख, 2029

अमृतसर

● ● ●

• • • 'भारतीय संस्कृति के आधार'

मानव में मानवीय तत्व उभारने का श्रेय संस्कृति को है। प्रत्यक देश व राष्ट्र की एक अपनी संस्कृति होती है। वस्तुत इसे ही किसी भी राष्ट्र का प्राण-तत्व या आत्मा कहा जा सकता है। राष्ट्र को सबल बना रहने के लिए बाह्य के साथ-साथ एक आन्तरिक शक्ति की भी आवश्यकता होती है। यह संस्कृति ही वह आन्तरिक शक्ति है जो उसे युगान्तर तक अपनी वैशिष्ट्य पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने के लिए सहायता करती है। गत दो तीन हजार वर्षों से विश्व के इतिहास मे भारत का विशेष स्थान बना है। पिछले हजार वर्ष से बाह्य-दृष्टि से अशक्त होते हुए भी वह अपने आन्तरिक मूल्यों को किसी न किसी प्रकार जीवित रख सका है और अब अवसर पाकर एक बार फिर स्वतन्त्र होकर वह उन्नति के पथ पर अग्रसर है। निश्चित रूप से इसका एक आधार है और उसी को जानने का हमारा यह छोटा सा प्रयास है।

ब्रह्माण्ड को देखकर आदिम मानव आश्चर्यान्वित हो गया। अपने अन्तर म उसने अनुभव किया कि इसका निर्माता कोई है। इस अनुभूति ने ही इसमे एक 'अव्यक्त-शक्ति' के प्रति विश्वास उत्पन्न कर दिया। उसकी विवेक शीला बुद्धि ने भी सोचा कि कारण के बिना कोई कार्य नही हो सकता। यदि सृष्टि है तो उसका निर्माता भी कोई अवश्य है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का मूलाधार ही एक 'अव्यक्त शक्ति' की सत्ता म विश्वास है। एक सद्विप्रा बहुधा वन्ति' इस एक शक्ति को ही विद्वानों ने अनेक नामों से पुकारा है। समय,

स्थान, परिस्थिति एव स्वभाव के अनुरूप उसके नाम प्रत्येक युग म बदलते रहे हैं। वस्तुत मानव के लिए जिस रूप म भी वह उपयोगी या प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई मानव ने उसे वही नाम दे दिया। उसका बाह्य रूप कुछ भी रहा हो, मूल तत्व म भारतीय सदा स विश्वासी रहा है।

सम्पूण ब्रह्माण्ड किसी नियम म बधा हुआ है। इसे हमारे ऋषियों ने 'ऋत (प्रटन प्राकतिक नियम) कहा है—सम्पूण जड और चेतन—सभी एक विशेष नियम म ही उत्पन्न होते हैं, विकसित होने हैं और नाश को प्राप्त होन हैं अथवा सदा बने रहते हैं। सूय, चन्द्र, तारे, रात और दिन, ऋतुए सर्दी गर्मी और वर्षा वनस्पतियो का उगना, बढना, फूलना और फलना सब समाप्त हो जाना, मानव का उत्पन्न होना बालपन, युवावस्था, वाधक्य और पुन मत्यु, विश्व के सभी पदाथ और काय किसी विशेष नियम से परिचालित हैं। भारतीय परिचालक अव्यक्त शक्ति के इस नियम सचालन म विश्वासी हैं। इसी लिए 'जीवेम शरद शतम्' हम सौ वष जीवें ऐसी प्राथना करके व स्वत भौतिक मृत्यु के आकाक्षी हैं। यह ठीक है कि इन प्राकृतिक नियमो के कुछ अपवाद भी मिलते हैं, पर वे नियम और इनका नियामक अवश्य ही महान हैं।

नियामक की इस महत्ता को जानने क लिए मानव मन की जिज्ञासा साकार हुई। बुद्धि ने उसे समझने का प्रयत्न किया, लेकिन ब्रह्म के नेति-स्वरूप (ऐसा नहीं ऐसा भी नहीं) तथा अन्य सभी रूपों पर विचार करन के पश्चात हार मान ली। तब अपनी सजग अनुभूति के माध्यम से उस महत्तत्व को अपनी सभी शक्तियों से महान अनुभव किया। समग्र भारतीय जीवन अनुभूति से ही अनुप्राणित है। उत्कष्ट साहित्यकार और कलाकार निश्छल अनुभूति' को ही सशक्त अभिव्यक्ति देता है। जीवन क जिन सिद्धान्तो की उपयुक्त बौद्धिक एव तार्किक व्याख्या नहीं मिलती, उन्हें भी भारतीयो न अनुभूति का आधार देकर अपनाया है। उस अव्यक्त शक्ति' को ब्रह्म को जिन्होने अपनी अनुभूति का विषय बना लिया है, व ही भारतीयों की दष्टि म महान पुरुष है। भौतिक दष्टि स समृद्ध राजा और दूसरे सभी लौकिक-ऐसे पुरुषो को आदर की दष्टि से देखते हैं। इसीलिए इस देश म बुद्ध कबीर गुरु नानक, गाधी और श्री अरविन्द का नाम बड गौरव के साथ लिया जाता है।

इस अनुभूति ने ही मानव म आध्यात्मिक दष्टि उत्पन्न की। पश्चिमी जगत की तरह भारतीयो ने अपने आपको केवल इस लौकिक जगत तक ही सीमित नहीं रखा। यहा के भौतिक जीवन से दूर के पारलौकिक जीवन को भी

उन्होने समझा और अपनाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार भारतीयो का जीवन इस लीला के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। उनका जीवन दर्शन सामाजिक-धर्म तथा वैयक्तिक आचार इसी विचार पर आधारित है। इसीलिए इसमे समृद्ध होने के लिए वे अपना परलोक नही बिगाडना चाहते। उनकी अर्थ तथा काम परक लिप्साओ को धर्म और मोक्ष नियन्त्रित करते हैं।

इस आध्यात्मिकता ने ही यहां के मानव को दार्शनिक दृष्टि प्रदान की है। भारतीय जीवन किसी दर्शन विशेष से परिचालित है। यहा की अनपढ ग्रामीण जनता को भी पता है कि उसने मोक्ष प्राप्त करना है, इसलिए लौकिक जीवन म भी वह अधार्मिक नही हो सकती। वस्तुत यहा के महान् ऋषियो को भी 'मन्त्र द्रष्टार' (मन्त्रो को देखने वाले) ही कहा गया है। उन्हें वेदो का लिखने वाला न कह कर—देखने वाला इसलिए कहा गया है कि उन्होने अपनी आतरिक दृष्टि से सत्य को देखा और अनुभव किया और वेद मन्त्रो के माध्यम से उसी की अभिव्यक्ति की।

'आत्मन विद्धि' अपने आप को जानो। अपने को जानने के प्रयत्न म उन्होने इस जगत और उसके निर्माता को भी जानने का प्रयत्न किया। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एव जगत के प्रति एक विशिष्ट दर्शन का प्रतिपादन किया। विविधता, व्यापकता एव निरन्तर परिवर्तनशीलता यहा के दर्शनो की विशेषता है। प्रत्येक परवर्ती दार्शनिक ने प्राचीन दर्शन के सिद्धान्तो मे अभाव देखकर, उनका परिहार कर, नए सिद्धान्तो की स्थापना का प्रयत्न किया है। इस प्रकार अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तो के होते हुए भी उनम परस्पर वैमनस्य नहीं, अपितु विचार विनिमय है। यह उनकी व्यापक चिन्तन शक्ति तथा सहिष्णुता का परिचायक है।

इस दर्शन पर आधारित जीवन व्यतीत करने का साधन धर्म है। वस्तुत यह धर्म ही सारे भारतीय जीवन को अनुप्राणित करता है। सम्पूर्ण लौकिक आचार एव व्यवहार इसी धर्म पर आधारित हैं। इसके मूल्य और मान्यताओं से ही व्यक्ति परिवार और समाज का प्रत्येक कार्य परिचालित होता है। यद्यपि समग्र भारतीय धर्म एक ही नही, फिर भी उनकी विविधता में कहीं न कही भावपरक एकता अवश्य छिपी है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो को जोडने का साधन भी यह धर्म ही है। इस प्रकार धर्म भारतीयो के लौकिक एव पारलौकिक जीवनो को नियन्त्रित करता है। इतना होते हुए भी भारतीय धर्म म कोई ऐसे निश्चित बन्धन नहीं हैं जिनके अभाव मे कोई भी व्यक्ति

प्रधार्मिक हो। सकीर्णता से दूर यह बहुत व्यापक इव उदार है। इतना ही नही सामाजिक होकर भी धम यहा नितान्त वयक्तिक है। एक ही परिवार के भाई, बहन, मा और बाप क्रमश कष्ण, राम, नक्ति और शिव के पुजारी हैं। फिर भी वे सब प्रकार से मिल कर रहते हैं। यहाँ के जीवन म 'विविधता म एकता' का यह अद्भुत उदाहरण है। सम्पूण भारतीय वाडमय धार्मिक दष्टि से ओत-प्रोत है। कलाओ की अभिव्यक्ति मे भी धम का आश्रय लिया गया है। यहा सम्पूण रीति-रिवाज, परम्पराए मा यताए सस्कार उत्सव और पव-जीवन की सभी क्रियाओ एव व्यवहारो का आधार यह धम ही है। भारतीय धम चिन्तन पर आधारित होकर भी नितान्त आचार-प्रधान है।

भारत मे जिसका आचरण अच्छा है, वह सच्चरित्र-व्यक्ति भगवान के किसी भी रूप को मान कर धार्मिक हो सकता है। आचार प्रभावो धम धम आचार प्रधान है, यह कह कर व्यक्ति के वैयक्तिक आचरण का महत्व स्थापित किया गया है। सामूहिक औपचारिकता के स्थान पर वैयक्तिक आचार गत गरिमा को धम म विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। लौकिक दष्टि से धम मानव के कत्त व्य का परिचायक है।

धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए ज्ञान भक्ति एव कम को साधनो के रूप मे अपनाने का सन्देश दिया गया है। व्यक्ति की रुचि एव परिस्थितियो के अनुसार कभी किसी की प्रधानता रही और कभी किसी की। इनके उचित अनुपात मे व्याघात पडता रहा और कभी कभी यही सामाजिक विकार का कारण भी बना। श्रद्धा हीन ज्ञान से अह उत्पन्न हो गया, ज्ञान हीन भक्ति उचित आश्रय का अन्वेषण न कर सकी। और इन दोनो के बिना कम पगु बन गया, केवल आडम्बर एव आवरणो का परिचायक ही रहा। जब जब इन तीना का मजुल समन्वय हुआ है, तभी उपयुक्त साधना स धार्मिक-जीवन का विकास हुआ है। भारतीय जीवन म इन तीना का ही विशिष्ट स्थान है।

कम के विकास मे यज्ञ एव योग का भी भारतीय धम म विशेष स्थान है। यज्ञ वैयक्तिक सामाजिक पवित्रता के प्रसारक हैं तो योग वयक्तिक शारीरिक स्वस्थता एव मानसिक नियन्त्रण का प्रबल साधन है। 'स्वधर्मे निधन श्रय परधर्मो भयावह'। अन्य धम को न अपना कर अपने धम मे ही मरना भी अच्छा है—यह कह कर अपने धम का महत्व प्रतिपादित किया गया है। भारतीय दृष्टि के अनुसार जीवनका एक उद्देश्य है। मानव मन की रुचि, प्रकृति एव प्रवत्ति के अनुसार वह उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं लेकिन जीवन उद्देश्य-

हीन हो, ऐसी बात नहीं। और प्राय यह उद्देश्य मात्र लौकिक ही नहीं, बल्कि कविता को भी अपने साथ सजाए हुए हैं। इसलिए 'कला कला के लिए' सिद्धान्त भारतीयता के अनुरूप नहीं बैठता। हमारा सम्पूर्ण साहित्य किसी उद्देश्य विशेष से अनुप्राणित है। सारी कलाओं की अभिव्यक्ति केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं, अपितु यह किसी अन्य विशिष्ट भाव की परिचायिका भी है। इस उद्देश्य की प्राप्ति ही मानव जीवन का साध्य है। सुख, शान्ति एवं समृद्धि पूर्वक लौकिक जीवन व्यतीत कर मोक्ष की प्राप्ति अथवा ब्रह्म से ऐक्य को प्राय यहाँ के मनीषियों ने जीवन का साध्य स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों ने इसे ही कैवल्य-प्राप्ति कहा है। दूसरों ने 'आत्मानं विद्धि' अपने को पहचानो—इस प्रकार अपने में अन्तर्हित ब्रह्म-तत्व को पहचान कर उसे उद्भासित कर और पूर्णतया विकसित कर ब्रह्म-तत्व में परिणत होने को ही जीवन का साध्य माना है।

मूल बात यह है कि सभी ने सम्पूर्ण भौतिक समृद्धि से भी आगे बढ़ कर अलौकिक तत्व से सहज आत्मीयता को ही अन्तिम साध्य माना है, जिसके लिए समस्त भौतिक ऐश्वर्यों का क्षण भर में त्याग किया जा सकता है, क्योंकि भोग नहीं, प्राप्ति करने के बाद भी त्याग ही यहाँ के जीवन का मूलाधार है।

जहाँ साध्य की प्राप्ति का विशेष महत्व है, वहाँ उसे प्राप्त करने वाले साधनों का उससे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। 'उचित साधनों से ही अच्छे साध्य की प्राप्ति हो सकती है'—इस भारतीय दृष्टि ने मानव में ऐसी कर्त्तव्य परायणता एवं औचित्यपरक दृष्टि उत्पन्न कर दी कि बड़े से बड़े लौकिक लाभ एवं आर्थिक समृद्धि के लिए किए गए अनुचित प्रयत्न एक बार तो मानव की आत्मा को कपा देते हैं। इस प्रकार अनुचित मार्ग का आश्रय लेने से हतोत्साहित करते हैं। 'उचित एवं उपयुक्त साधनों से साध्य की प्राप्ति' के सिद्धान्त को न केवल दर्शन, धर्म, साहित्य एवं कला में ही स्थान मिला है, अपितु यहाँ की राजनीति में भी इसका विशेष स्थान रहा है। इसलिए यहाँ युद्ध को भी 'धर्म-युद्ध' कहा गया है, क्योंकि वहाँ भी प्राय अधर्म का आश्रय नहीं लिया जाता था।

भारतीय संस्कृति के अनुसार बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक भावना का अधिक महत्व है। तथ्यों का ज्ञान होना अच्छा है लेकिन उनमें से सत्य को उभारने का ही यहाँ विशेष महत्व है। वस्त्र अच्छे हो सकते हैं, लेकिन चरित्र का अच्छा होना नितान्त आवश्यक है। अमेरिकन महिला की सभ्य एवं सुसंस्कृत व्यक्ति की धारणा को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भी यही कहा था

कि यहा (अमेरिका म) र्जा किसी को भी सुसस्कृत एव सभ्य बना सकता है, पर जिस देश (भारत) से मैं आया हूँ वहा चरित्रगत उदात्तता ही व्यक्ति को सुसस्कृत एव महान बनाती है। इसलिए यहा के धम म भी जब कम काडा की प्रधानता हुई और उनम से भाव का परिहार हुआ, तो उसकी प्रतिक्रिया हुई और पवित्र आचार-प्रधान जैन तथा बौद्ध धर्मों का अभ्युदय हुआ। मध्य युग म पुन धार्मिक आडम्बरो एव आवरणा की प्रतिक्रिया मे ही कबीर आदि सतो को जनता को ललकारते हुए कुठारा हाथ म लेकर चलने की आवश्यकता अनुभव हुई। न केवल धम अपितु जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र मे औपचारिकता का महत्व बढा वही पतन आरम्भ हो गया। और इस प्रकार एक बार फिर जनसमाज ने आन्तरिक भाव का वास्तविक मूल्य जाना। साहित्यिक विधाओ के औपचारिक बन्धन होते हुए भी 'रस को ही उसकी आत्मा स्वीकार किया गया है। कला मनोरजन करते हुए भी चित्त-वृत्तियो को आह्लादित करती है। आतरिक भावनाओ के परिष्कार के प्रतीक-सस्कारो का भारतीय जीवन म विशेष महत्व है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हमारे यहा सभी क्षेत्रा म बाह्य तत्व की अपेक्षा आ तरिक सत्य का महत्व अधिक है।

इससे जीवन मे चरित्र गत आन्तरिक पवित्रता के मूल्य का बोध होता है। हमारे सम्पूण धम कम इस पवित्रता के लिए हैं। तीथ, स्नान, व्रत पूजा उपवास आदि बाह्याचारो का मूल भाव अत करण की पवित्रता ही है। यदि इनसे पवित्रता नही तो इन औपचारिकताओ का कोई मूल्य नही।

इसलिए इनसे भी बढकर तप त्याग सेवा और साधना का हमारे यहा विशेष महत्व है। अ त करण को पवित्र करने के लिए य विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। तप से ही बुद्ध भगवान बुद्ध बन गए थे। इस आ तरिक पवित्रता से ही चरित्र उदात्त बनता है।

जीवन व्यतीत करने के लिए उपयुक्त साधनो का हम आश्रय लेत हैं, उससे मानवीय-चरित्र का उदात्तीकरण होता है। भारतीय जीवन म उदात्त चरित्र का सबसे महत्वपूण स्थान है। विद्वान का आदर सब जगह होता है लेकिन चरित्रवान के प्रति अनायास ही श्रद्धा से सिर झुक जाता है। इसी लिए पश्चिम की तरह भारत एक ही व्यक्ति क दो व्यक्तित्व के सिद्धात म विश्वासी नहा है। वहा उसका सामाजिक राजनैतिक आर्थिक या धार्मिक व्यक्तित्व महान् हो सकता है, लेकिन चरित्रगत व्यक्तित्व तुच्छ। फिर भी समाज में उसका विशेष स्थान बना रहता। लेकिन यहा व्यक्तित्व की गरिमा उसकी

चरित्रगत उदात्तता पर निभर है और उसके अलग अलग 'दो व्यक्तित्व' जैसी कोई चीज नही। आन्तरिक भावनाओ, मानसिक वत्तिया तथा मानव मन की रुचि एव प्रवतिया का सामूहिक रूप से उपयुक्त विकास ही उदात्त-चरित्र का निर्माण करता है।

भारतीय इतिहास मे सदा स उदात्त चरित्र वाले नायक की ही परिकल्पना की गई है। तप त्याग, सेवा और साधना स जिमन अपने चरित्र का उदात्तीकरण कर लिया है, वही व्यक्ति न केवल यहा के सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्र म उभर कर आया है अपितु कुचक्र-पूण राजनतिक क्षेत्र को भी वह विशेष रूप स प्रभावित करता रहा है।

सामाजिक एव धार्मिक नेता राजा राम मोहन राय तथा स्वामी दयानद के साथ साथ चालीस वप तक भारतीय राजनीति की बागडोर सम्भालने वाले महात्मा गांधी के महत्व को कौन भुला सकता है ? इसका कारण उनकी राजनैतिक सूझ बूझ न होकर चरित्रगत गरिमा थी, जिसकी नतिक शक्ति से उ होने बडे भारी साम्राज्य के शासका, विश्व के अदभुत कूटनीतिना को झुकने पर विवश कर दिया था। इस प्रकार भारतीय जीवन म उदात्त चरित्र का सबसे महत्वपूण स्थान दिया गया।

भारतीय दष्टि से जीवन म सतुलन का विशेष स्थान है। वाह्य और अन्तर का सतुलन, बुद्धि और हृदय का सतुलन आदश और यथाथ का सतुलन, धम और कम का सतुलन, भोग और त्याग का सतुलन, लोक और परलोक का सतुलन, सत्य और तथ्य का सतुलन आदश और कल्पना का सतुलन, अनुभूति और अभिव्यक्ति का सतुलन, व्यक्ति और परिवार और समाज का सतुलन, अथ और काम का सतुलन साहित्य और कला का सतुलन, मानव और प्रकृति का सतुलन समाज और देश का सतुलन देश और विदेश का सतुलन, इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म सतुलन का विशेष महत्व है। भौतिक दष्टि मे समृद्ध होते हुए भी पश्चिम की बढी हुइ अशाति का विवचन करत हुए एक स्थान पर विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि वहा मानव ने पकति स सतुलन नही बिठाया, अपितु सदा उस पर विजय पाने का ही प्रयत्न किया। इस प्रकार अपनी अशाति को बढाया है, जबकि हमारे मनुष्यो ने आरम्भ से ही प्रकृति से सतुलन बठाकर उसका अधिकाधिक उपयोग एव उपभोग कर स। अपने जीवन को सुख शाति और समृद्धि से पूण किया है। उनके इस सादा जीवन, उच्च विचार तथा पवित्र आचरण ने ही भारतीय सस्कृति के महान आधार

स्तम्भो की स्थापना की है।

इस सतुलन से जिस उचित समन्वय का परिचय मिलता है, वही जीवन मे औचित्य का निर्धारण करता है। जिस प्रकार प्रकृति मे सत्व-रज और तम का उचित अनुपात ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्राकृतिक नियमो से परिचालित किए हुए है, उसी प्रकार भारतीय जीवन ने भी इसके महत्व को अनुभव किया है। इसलिए यहा भाव विचार एव अभिव्यक्ति के उचित अनुपात मे ही महान साहित्य के दर्शन होते हैं। चित्रकला मे कूची द्वारा रगो का अदभुत सयोजन है तो सगीत मे ध्वनियो एव सुरो का उपयुक्त आरोह अवरोह। भारतीय वास्तु एव शिल्प कला के सौन्दय को द्विगुणित करने का श्रेय भी इस उचित अनुपात का ही है। कुल मिलाकर कहा जा सकता ह कि इस औचित्य परक समन्वय और सतुलन से ही यहा का सारा जीवन अनुप्राणित रहा है।

इस सतुलित दृष्टि के कारण भारतीय जीवन मे 'निवृत्ति परक प्रवृत्ति' का विशेष स्थान है। वासनाए मानव जीवन का प्राकृतिक एव स्वाभाविक अग हैं अत उनका परिहार नही किया जा सकता। लेकिन इन्द्रियो के माध्यम से मात्र वासनाओ की तृप्ति के लिए ससार मे ही लिप्त हो जाने से भी जीवन मे सफलता नही मिल सकती। स्वामी रामकृष्ण परमहस ने एक स्थान पर कहा है। ' Passions cannot be eradicated these can be sublimated or educated"

अर्थात वासनाओ का समूल नाश नही किया जा सकता, या तो इनका उदात्तीकरण हो सकता है अथवा इन्हें शिक्षित किया जा सकता है। उदात्तीकरण का भाव है इनका परिष्कार और सस्कार। भावनाओ एव वासनाओ के उदात्तीकरण से ही मानव सुसस्कृत बनता है। उन्हे सुनिश्चित करने का तात्पय है उनका औचित्य परक उपयोग। प्रेम को देश प्रेम मे परिणत किया जा सकता है। क्रोध से अत्याचारी को धमकाया जा सकता है। साहस शौय और शक्ति का प्रयोग अ यायी एव अनाचार शत्रु म होना चाहिए। अत सभी भावनाओ के उचित विकास एव उपभोग की आवश्यकता है। उनका नियमन करती है जीवन के प्रति निवृत्ति परक दृष्टि। उनका उपभोग करते हुए भी उनमे ही लिप्त न हो जाना मानव को घोर सासारिकता से बचा सकता है। अ यथा भरतहरि के शब्दो म—

> कालो न यातो वयमेव याता
> तप्तो न तप्तो वयमेव तप्ता।

'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा,
भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता ॥"

इस प्रकार यह निवृत्ति परक दृष्टि ही हमें पूर्णतया सांसारिकता में लिप्त होने से बचाए रखती है। लेकिन संसार से एकदम विरक्ति भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानव प्राय जीवन में संतुलन खो बैठता है। मध्य-युग में बौद्ध तथा अन्यान्य सम्प्रदायों के मठों में वामाचार के विकास का यही कारण है क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार मानव-मन की स्वाभाविक वृत्तियों को तो दबाया नहीं जा सकता, अतः संन्यास का स्वाँग रचने वाले अपने में संन्यास के उपयुक्त विरक्ति के भाव को उत्पन्न न कर सके, और समय पाकर उनकी वृत्तियाँ विपथ-गामिनी होती गई। इसीलिए भारतीय जीवन के आधार स्तम्भ हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जहाँ अर्थ और काम प्रवृत्ति के परिचायक हैं, वहाँ धर्म और मोक्ष उनके नियामक। भौतिक समृद्धि का परिचायक अर्थ आज विश्व की सम्पूर्ण शक्तियों का परिचालित किए हुए है और काम मानव की सर्वाधिक प्रबल वासनात्मक वृत्ति का द्योतक है। मोक्ष मानव को निरन्तर जागरूक करता रहता है कि संचित धन साथ नहीं जाने वाला और काल-परक उपभोग भी शाश्वत नहीं अतः धर्म उनके अर्जन और उपभोग का साधन बताता है कि इनका औचित्य परक अर्जन और उपभोग करना चाहिए। अन्यथा उपर्युक्त साधन एवं संतुलन के अभाव में ये सुख, शान्ति एवं समृद्धि देने वाले न होकर व्यक्ति को, परिवार को, समाज को और देश को अशान्ति एवं पतन की ओर ही ले जावेंगे। इस प्रकार धर्म और मोक्ष अर्थ और काम का नियमन करते हुए 'निवृत्ति-परक-प्रवृत्ति' को भारतीय जीवन का आधार भूत सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। इस प्रकार परलोक का ध्यान रखते हुए लोक की उपेक्षा भी नहीं की गई। इतना ही नहीं, यदि ध्यान से देखा जाय, तो इसी सिद्धान्त पर हमारी आश्रम व्यवस्था भी आधारित है।

ब्रह्मचर्य सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास का समय है। विद्यार्थी रूप में जीवन व्यतीत करते हुए मानव कठिन से कठिन श्रम करता हुआ तप, त्याग, सेवा और साधना का क्रियात्मक पाठ पढ़ता हुआ न केवल ज्ञानार्जन करे अपितु देह को भी पुष्ट करे, बुद्धि को विकसित करे, विवेक को जागृत करे तथा मानसिक वृत्तियों का भी परिष्कार एवं संस्कार-परक विकास करे। इस प्रकार चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास करते हुए सामाजिक मूल्यों या मान्यताओं का समर्थन हुए अपने को आजीविका अर्जित करने तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश लेने के योग्य बनावे। उपर्युक्त

आजीविका अर्जित करते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश लेकर परिवार का संयोजन कर पितृ ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करता हुआ गृहस्थ सामाजिक भी हो। यह आश्रम मानव की धर्म और काम-परक वृत्तियों के उचित विकास और परितोष का युग है। लगभग 25 से 50 वर्ष की आयु में इस कर्म को किया जाना चाहिए। पुनः पुत्र के बड़ा होने पर उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट कराकर स्वयं वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश लेवें। सामाजिक धार्मिक कर्म करता हुआ सांसारिकता से निर्लिप्त होने का प्रयत्न करे, तथा धर्म के माध्यम से अपने में आध्यात्मिक दृष्टि उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार परिवार से सम्बन्ध तोड़ कर समाज और राष्ट्र हित की भावना को जाग्रत करे और राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक धार्मिक आदि रचनात्मक कर्मों द्वारा सभी क्षेत्रों में समाज का मार्गदर्शन करे। पुनः 75 वर्ष के बाद सभी सांसारिक भावनाओं का त्याग कर अलौकिक से सीधा सम्बन्ध जोड़ना आरम्भ करे। मानव जीवन का ऐसा स्वाभाविक विकास क्रम है। संसार में प्रवेश करने के लिए उपयुक्त व्यक्तित्व का निर्माण मानसिक वृत्तियों एवं सांसारिक एषणाओं का उपयुक्त उपभोग एवं परितोष पुनः धार्मिक सामाजिकता के माध्यम से संसार से अलगाव का प्रयत्न और अन्ततः इहलोक से विरक्ति एवं परलोक का चिन्तन, मनन निदिध्यासन। इस प्रकार प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर प्रयाण करता हुआ जीव मोक्ष को ध्येय बनाकर ब्रह्म तत्व की ओर अग्रसर होता है।

यह निवृत्ति-परक प्रवृत्ति हमें निष्काम कर्मण्य जीवन का ही संदेश देती है। श्री कृष्ण ने गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (जीव का कर्म करने में ही अधिकार है, फल प्राप्ति में नहीं।) मात्र निवृत्ति को ही जीवन का आधार मान कर मानव अकर्मण्य न हो जावे अतः उसे सदा कर्मण्य बना रहने का संदेश दिया है लेकिन कर्मण्य होने पर उसकी आकांक्षाएं अनन्त न हो जावें अतः फल प्राप्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं इस बात का भी निर्देश कर दिया गया है।

यह ठीक है कि कर्म का फल अवश्य मिलेगा परन्तु सीमित ज्ञान होने के कारण मानव यह नहीं बता सकता या समझ सकता कि कितने कर्म का कितना फल मिलेगा, अतः उसे निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। इसीलिए कर्मों को भी तीन प्रकार का बताया है, प्रारब्ध संचित और क्रियमाण। सभी क्रियमाण कर्मों का ही फल एक समय नहीं मिलता। उसमें बहुत से पुराने संगृहीत तथा कुछ पहले के एकत्रित फल भी साथ जुड़े रहते हैं और बहुत सी

बार एक समय किए गए काम का फल सचित हो जाता है।

निष्काम-कर्मण्य जीवन हम सदा यत्नशील एव परिश्रमी बना रहने का सदेश देता है। कहा भी है—'उद्योगिन पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मी।' उद्यमी पुरुष को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। लेकिन भाग्यवाद का परिश्रम से मणि काचन सयोग है। भारतीय यह विश्वास करते हैं कि सब प्रकार से उपयुक्त परिश्रम करने के बाद भी बहुत बार उचित फल की प्राप्ति नहीं होती। तब अव्यक्त शक्ति की महत्ता का स्वीकार करते हुए मानना पड़ता है कि यह भाग्य म नहीं लिखा था।"

"भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम" विद्या और पुरुषार्थ नहीं, अपितु भाग्य ही सर्वत्र फलदायक होता है। वस्तुत भाग्य और कुछ नहीं, हमारे प्रारब्ध सचित और क्रियामाण तीनो प्रकार के कर्मों का वह फल है, जिसका अल्पज्ञ होने के कारण हम समय पर बोध नहीं होता और हम उसे भाग्य कह कर अपने आपको सतुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सदा कर्मण्य एव परिश्रमी होने का स देश दिया गया है।

भारतीय आशावादी जीवन दृष्टि में विश्वासी हैं। परिश्रम और भाग्यवाद का जब निष्काम कर्मण्य जीवन से सयोग होता है तो आशा कभी मर नहीं सकती। इस प्रकार मानव मे उल्लासपूर्ण विकास का विशेष भाव बना रहता है। यह आशावादिता ही भारतीयों को सुखान्त परक दृष्टि प्रदान करती है। सम्पूर्ण भारतीय वाड्मय इसका परिचायक है। सम्भवत इसीलिए प्राय कोई भी प्राचीन भारतीय नाटक दुखान्त नही है।

भारतीय स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक की रुचि, प्रकृति एव प्रवृत्ति भिन्न है। कहा भी है 'भिन्न रुचिहि लोक" सामाजिक व्यक्ति अलग अलग रुचि वाले होते हैं। इसीलिए उनके गुण, कर्म, स्वभाव, क्षमता एव योग्यता म भी विविधता होती है। भारतीय समाज के वर्गीकरण का यही आधार है। अपने स्वभाव गुण एव कार्य के अनुरूप वह आजीविका अर्जित करने का साधन चुनता है इस प्रकार वर्ग विशेष से उसका घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। इन वर्गों एव वर्णों का सम्बन्ध कर्म से है, न कि जन्म से जैसा कि प्राय आजकल समझा जाता है। एक ही परिवार से ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र का विकास होता है। मेधावी वेद आदि शास्त्रों का अथवा अन्य किसी भी ज्ञान विज्ञान का अध्ययन करके पढ़ाने का कार्य करने वाला ब्राह्मण हो सकता है। साहसी वीर देश की रक्षा करने वाला क्षत्रियत्व का परिचायक है। व्यापार आदि साधनो से धन अर्जित

रक्ने वाला वैश्य कहला सकता है। और उपयुक्त बौद्धिक विकास के अभाव म शारीरिक श्रम आदि द्वारा जन समाज की सेवा करने वाला शूद्र हो सकता है। जन्म से अपने को उच्च वर्ण का समझने वाले ब्राह्मणो को अधिकारी कबीर आदि संतो से भाड खानी पडी और कम के महत्व को न समझ कर आडम्बर-परक ज माधारित जाति पाति के बन्धन शिथिल करने पडे। तुलसी ने पुन इस दुर्भावना को दूर कर उचित वर्ण व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया।

गुण कर्म स्वभाव एव अर्थ की दृष्टि से विषमता और विविधता होते हुए भी भारतीय मानवीय धरातल पर मानव मानव की एकता मे विश्वासी हैं। "संगच्छध्व संवदध्व सवो मनांसि जानताम' इकट्ठे चलें, एक जसा बोल और हम सब के मन एक जसे हो जावें, यह भावना हमारे यहाँ प्राचीन काल से चली आ रही है। इसीलिए यहा राजा और रक, धनवान् और संत सब एक साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं। यद्यपि जाति गत दुर्भाव अभी समाप्त नही हुआ, परन्तु मूलत भारतीय मानवीय एकता म विश्वासी हैं। सभी गगा म स्नान कर सकते है मन्दिर मे जा सकते हैं। सभी यज्ञ करने का और सभी देवी देवताओ को अपना इष्ट स्वीकार कर उनकी उपासना एव भक्ति का सभी को एक जैसा अधिकार है। इतना ही नही, यहा तो इससे आगे बढकर यह भी कह दिया गया है—

'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन ॥

वे पण्डित जन विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण म चण्डाल मे तथा गौ हाथी और कुत्ते म भी समदर्शी होते हैं। अर्थात सभी म उस ब्रह्म तत्व को अनुभव करते हुए सबको एक भाव से देखते हैं। इसीलिए इस देश के सामाजिक एव धार्मिक नेता जुलाहा कबीर चमार रविदास छीपा नामदेव, कसाई सधना, जाट धन्ना मोदी खाने का तोलिया गुरु नानक तथा भक्ति एव शक्ति का प्रसारक गुरु गोबिन्दसिंह हुए हैं और आज भी समाज म वे विशेष रूप से समादत हैं।

भारतीय जीवन म सस्कारो का विशेष महत्व है। गर्भाधान और जन्म से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया सस्कार तक भारतीय इनका आश्रय लेकर चलता है। किस आयु म व्यक्ति क्या करने योग्य है और उस काय को कैसे करना चाहिए—सस्कार, उसकी विधि तथा उसके प्रति औचित्य परक दृष्टि का परिचायक है। विद्याध्ययन के समय या विवाह के अवसर पर व्यक्ति को उसकी आवश्यकता,

साधन तथा उपयुक्त फल प्राप्ति का सदेश दिया जाता है, जिससे वह इनके महत्व को समझ कर उसके अनुरूप कार्य कर सके। वस्तुत जीवन के अन्या य मोडो पर ये सस्कार ही व्यक्ति को सुसस्कृत बना रहने का सदेश देते रहते हैं और जीवन म व्यक्ति को उसके कर्तव्य तथा अधिकारो के प्रति जागरूक करते हैं। भारतीयो के जीवन मे 16 सस्कारो का विशेष महत्व है जिनम मे 8 प्रवृत्ति परक और 8 निवृत्ति परक हैं।

इस प्रकार मानव जीवन म सतुलन को न भुलाकर उन सिद्धान्तो का स्मरण करता हुआ रहता है, जिनके आधार पर उसने जीवन व्यतीत करना है। अत सस्कार भारतीय सस्कृति का अभिन्न अग हैं। यहा के पर्वों और त्योहारो का भी एक सास्कृतिक महत्व है। अन्य देशो के पर्वों की तरह व आनन्द और उल्लास के परिचायक तो हैं ही, लेकिन यहा उनका उससे बढकर भी मूल्य है। विजय दशमी केवल राम की रावण पर विजय की ही परिचायिका नही, अपितु पुण्य की पाप पर विजय की भी प्रतीक है। इसम हम अमर सदेश मिलता है कि सदा सत्कर्म और पुण्य ही अन्तत उपयुक्त फलदायी होता है, चाहे मार्ग म उसे कितनी ही कठिनाइयो का सामना क्यो न करना पडा हो।

सस्कारो के महत्व को समझते हुए जीवन के इन सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देने का हमारे यहा और भी अधिक महत्व है।

'Truth is high, but still higher is truthful living"

सत्य महान् है पर सत्य पर आधारित जीवन व्यतीत करना उससे भी महान् है। इस प्रकार यहा केवल सिद्धान्तो म विश्वासी या उसके प्रचारक का कोई मूल्य नही यदि वह आचरण के माध्यम से उन्ह जीवन म नही उतारता। इसके विपरीत वह व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक महान् है, जिसे दर्शन और धर्म के महान सिद्धान्तो का बोध नही, पर तु अपने स्वभाव, गुण प्रकृति एव सस्कारो के कारण वह उन्हें अनायास ही जीवन म चरितार्थ करता चलता है। इस प्रकार भारतीय सस्कृति क्रियात्मक कर्मण्य जीवन का महत्व स्थापित करती है।

यहा का मानव सकीर्णता का त्याग कर उदारता का परिचायक है। मानवीय धरातल पर वह सम्पूर्ण विश्व को ही अपनाने को तैयार है। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् वर्ण या देश भेद को समझ कर उसे अपनाने म किसी प्रकार का सकोच हो, ऐसी बात नहीं। उसके किसी प्रकार की विद्या प्राप्ति म

बाधा हो, ऐसी भी बात नहीं इस उदार वृत्ति के कारण ही हमारी प्राध्यात्मिक शक्ति का इतना विकास और प्रसार हुआ कि शक हूण कुशाण, मुसलमान और ईसाई सभी को हमने भारतीय बनाकर अपना लिया। न केवल मानव समूह को अपितु उनके जीवन दर्शन में से भी बहुत सिद्धान्तों को अपनी प्रकृति के अनुरूप ढाल कर अपना लिया। इसीलिए वे जातियां और धर्म यहां उपयुक्त आश्रय पाकर इसे ही अपना घर बना बैठी। सहिष्णुता का भी भारतीय जीवन में विशेष महत्व है। इसीलिए यह धर्म प्रधान देश भी धर्म निरपेक्ष देश है। यहाँ सभी धर्मों को अपना स्वतन्त्र रूप से प्रचार और विकास करने की छूट है। यद्यपि इस सहिष्णुता और उदारता का दूसरे धर्म वालों ने कई बार बहुत दुरुपयोग किया है परन्तु अपना स्वभावगत गुण होने के कारण हम उसे छोड़ नहीं सके। आर्थिक लालच देकर यहां गरीबों का धर्म परिवर्तन किया जाता रहा है। विश्व के और किसी देश ने यह नैतिक अत्याचार नहीं सहा।

संस्कृत हमारी सांस्कृतिक दायाद की रक्षिका एवं वाहिनी है। अतः उसका भारतीय जीवन में विशेष स्थान है। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कहा है, कि संस्कृत पढ़े बिना व्यक्ति सुसंस्कृत ही नहीं हो सकता।' यह वक्तव्य अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकता है पर इसमें भी कुछ न कुछ सत्य अवश्य अन्तर्हित है।

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतीय संस्कृति जाग्रत-शक्ति के रूप में विगत तीन-चार हजार वर्ष से निरन्तर प्रवहमान है। यह अविरल धारा बहुत सी बार एकदम क्षीण भी हो गई परन्तु विश्व की कई अन्य प्राचीन संस्कृतियों की तरह एकदम लुप्त नहीं हुई। जब जब इन आधार-भूत सिद्धान्तों को जीवन में क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सका तब तब अन्य उपयुक्त शक्तियों ने यहां के मानव को, जन समाज को धर दबाया है। ये अभाव कभी राजनैतिक क्षेत्र में उभरे कभी सामाजिक कभी धार्मिक और कभी आर्थिक क्षेत्र में फिर भी गौरव की बात है कि यह संस्कृति न तो एकदम समाप्त ही हुई और न ही इसने अपने आधारभूत सिद्धान्तों में कोई ऐसा परिवर्तन किया जिससे इसके आंतरिक रूप में कोई परिवर्तन आता। हां समय की पुकार से इसके बाह्य रूप में परिवर्तन आता रहा है और वह नितांत आवश्यक भी था।

भारतीय संस्कृति के ये मूल भूत तत्व हैं जिन पर विगत तीन-चार हजार वर्ष से भारतीय जन-जीवन के प्रासाद का निर्माण होता रहा है।

इनका मूल्य और महत्व व्याख्या और आख्यान का विषय नहीं है। यह केवल अनुभूति का विषय है जो ऐसा जीवन व्यतीत करता है, वही उसके आनन्द का उपभोग कर आह्लाद मे रमा रहता है। यही इसका उत्कृष्ट फल है। भारतीय संस्कृति के मूल तत्वो का ऊपर विवेचन किया जा चुका है। इन्हे जीवन मे चरितार्थ करते हुए बहुत से मूल्य और मान्यताए बनानी हैं। भारतीय जीवन को समझने के लिए उनका परिचय जानना भी आवश्यक है। उन्ही का सक्षेपत यहा परिचय देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारतीय जहा गो और ब्राह्मण को आदर की दृष्टि से देखता है, वहा वह उनके प्रति पूज्य बुद्धि भी रखता है। वेद, पुराण, स्मृति आदि सभी धार्मिक ग्रथो म उसका पूर्ण विश्वास न भी हो, तो भी वह उन्हे आदर की दृष्टि से अवश्य देखता है। गुरू तथा वयोवृद्ध में भी अनायास ही उसकी पूज्य बुद्धि होती है। यह पूज्य बुद्धि ही गुरू की विशेष सेवा करने मे विश्वास उपजाती है। सेवा आर्थिक एव भौतिक हो या न, पर मानसिक भाव परायण सेवा अवश्य होनी चाहिए। इसीलिए सम्पूर्ण भारतीय इतिहास और वाङमय म गुरु का स्थान बहुत ऊचा है। मध्य युग मे तो गुरू गोविन्द (भगवान) से भी बढकर महत्व पूर्ण हो गया था, क्योकि वही तो गोविन्द को मिलाने वाला था। कबीर ने कहा भी है —

"गुरू गोविन्द दोनो खडे, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो दिखाय॥'

शिष्यों को तो सदा ही नम्र, सेवा परायण एव जिज्ञासु बने रहना चाहिए। यह निरन्तर तप द्वारा विद्याभ्यास करे, सुख की कल्पना करना भी उसे उपयुक्त नहीं। उसे केवल ज्ञान ही नही, अपितु गुरू से आचार भी अर्जित करना है। सामूहिक एव चतुर्दिक व्यक्तित्व के विकास के लिए शरीर, मन बुद्धि हृदय और आत्मा सभी को स्वस्थ सशक्त एव सयम-पूर्ण बनाना है। तभी वह आचारवान सभ्य एव सुसस्कृत नागरिक बन सकेगा। इसीलिए भारतीय समाज म विद्वान् की अपेक्षा चरित्रवान् का अधिक महत्व है।

सतगुणो के विकास के लिए बच्चो का सार्थक एव अच्छा नाम रखा जाता है, क्योकि भारतीय संस्कृति नाम, रूप एव गुणो के ऐक्य म विश्वासी है। सद्ग्रथो का अध्ययन सत्कर्म तथा सत्सग का भी इसीलिए यहा के जीवन मे विशेष महत्व है। सभी मिलकर ऐसे सत-वातावरण का निर्माण करते हैं जिससे अनायास ही मानव की सत्प्रवृत्तिया उभर आती हैं और सदाचार के माध्यम

से वह उदात्त चरित्र को विकसित कर पाता है जिसका महत्व हम पहले ही देख आए हैं।

प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त मे उठने को श्रेयस्कर बताया गया है। उस समय के शान्त वातावरण मे मानव म अनायास ही सात्विक-भाव जाग उठते हैं। आध्यात्मिकता का भारतीय संस्कृति और जीवन म सबसे प्रमुख स्थान है। सम्भवत इसीलिए भारतीय ब्राह्म-मुहूर्त म उपासना आदि करता है। चूंकि व्यक्तित्व के विकास के लिए शुद्ध एव स्वस्थ देह का होना आवश्यक है। वह प्रात काल ही नित्य नैमित्तिक कार्य (शौच, स्नान आदि) करके देह को शुद्ध तथा व्यायाम आदि द्वारा देह को स्वस्थ बनाता है। वयोवृद्धों को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करता है तथा अपने म न केवल विनयिता की भावना का विकसित करता है, अपितु उनके प्रति सेवा और श्रद्धा की भावना को भी बनाए रखता है। यज्ञ आदि के द्वारा वह घर के वातावरण के साथ मन, बुद्धि एव हृदय को भी पवित्र करने का प्रयत्न करता है। वह शुद्ध, पवित्र एव ईमानदारी से अर्जित किए हुए सादे एव सात्विकता प्रधान पुष्ट भोजन म विश्वासी है। यह भोजन ही उसको स्थूल देह को पुष्ट करने के साथ साथ सूक्ष्म मन को भी पोषक तत्व प्रदान करता है। अपवित्र भोजन पवित्र मन का निर्माण नही कर सकता, अत भारतीय को वह ग्राह्य नही। उसम स्पर्श्यास्पृश्य विचार भी है। दुष्ट एव दुर्भावनाग्रस्त व्यक्ति का भोजन पवित्र भावो की उद्भावना कैसे कर सकता है?

अतिथि सत्कार का भारतीय संस्कृति म विशेष महत्व है। उसकी सभी सुविधाओ का अधिक से अधिक ध्यान रखकर उसके आशीर्वाद की आकाक्षा बनी रहती है। इसमे औपचारिकता से कही अधिक भाव और श्रद्धा होती है। हमारी संस्कृति के अनुसार व्यक्ति को उस घर म जाना चाहिए, जहा उसका आदर हो। वृद्ध एव रोगी की सेवा-सुश्रूषा करना हिन्दू संस्कृति का मानवीय धर्म है। उसम विनयिता नम्रता एव नि स्वार्थ-भाव होना चाहिए। जिस सेवा से 'अह' भाव का विकास हो उसका भारतीय जीवन म कोई स्थान नही, क्योकि उसम समाज कल्याण की भावना नही बनी रह सकती। नि स्वार्थ भाव से ईमानदारी से दान अवश्य देना चाहिए। यह दान चाहे धन का हो श्रम का हो, विद्या का हो या सेवा का हो। दान सुपात्र को ही देना होता है और वह भी अधिक से अधिक शान्त एव गुप्त ढग से। प्रचारित दान व्यक्ति म 'अहकार' या कभी-कभी स्वार्थ को उत्पन्न कर देता है। विद्या दान को हमारे यहा सर्वोत्कृष्ट दान बताया है।

घर और व्यक्ति का सादा, साफ तथा प्रभावोत्पादक होना अपेक्षित है। वस्त्रो मे सजावट भी हो, सौन्दय को रोचक ढग से उभारने के लिए न कि वासनात्मक वत्तियो को उत्तेजित करन हेतु। यहा तडक-भडक का मूल्य नही हा सुष्ठु रुचि प्रमारक रमणीयता का अवश्य स्थान है। इसीलिए वस्त्रो, उनकी बनावट आदि से पहनने वाले के आचार का महत्व कही अधिक है। बडो के पास सदा उनके पैरो की ओर बैठना होता है, यह उनके प्रति आदर का परिचायक है और अपने मे विनयिता बनाए रखता है। उन्हे श्रद्धा से अभिवादन कर आशीर्वाद प्राप्त करने की बात ऊपर कही जा चुकी है। 'मित, मिष्ट और हित बोलते हुए इन तीन तत्वो का ध्यान रखना हमारे सभ्याचार के अनुरूप है। थोडा बोलें अर्थात बिना बुलाए न बोलें तो बहुत उपयुक्त है, मीठा बोलें, अभिव्यक्ति का ढग अच्छा होना चाहिए और हितकारी बात करें। कडवी बात भी मीठे ढग से कही जा सकती है। रात्रि मे देर तक घर से बाहर न रहना, जल्दी सोना तथा प्रात उठना भी हमारे यहा श्रेयस्कर समझा जाता है।

हिमालय आदि पवतो गगा आदि नदियो, काशी आदि नगरिया तथा वेद आदि कतिया के प्रति भी भारतीयो मे श्रद्धा पूवक पूज्य बुद्धि है। और सम्पूण देश को तो मातभूमि कह कर ही गौरवान्वित किया जाता है। 'स्वधर्मे निधन श्रय परधर्मो भयावह' कहकर अपने धम को ही श्रेष्ठ ठहराया है, अत अपना धम बदलने के स्थान पर मत्यु का आलिगन करने को अच्छा बताया है। नवम गुरु तेग बहादुर का बलिदान और दशम गुरु के दो पुत्रो का जि दा दीवार मे चुना जाना धम परिवतन न करने की प्रतिक्रिया के ही ज्वलत प्रमाण हैं। और इस धम के ही मनु ने दस (1) तथा श्री मद्भागवत मे तीस लक्षण बताए हैं। (2)

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित, अनुचित का विचार मन तथा इन्द्रिया का सयम अहिंसा, ब्रह्मचय, त्याग, स्वाध्याय निष्कपटता, सतोष, समदृष्टि महापुरुषो की सेवा धीरे-धीरे सासारिक भागो की चेष्टा स निवत्ति, मनुष्य के अभिमान पूण प्रयत्नो का फल यथायोग्य विभाजन, सभी प्राणिया विशेषत मनुष्यो को अपना आत्मा और इष्टदेव ही समझना, सतो की परम-गति भगवान् के गुण-माहात्म्यादि का श्रवण कीतन और स्मरण उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य सख्य और आत्म समपण यह सभी मनुष्यो के लिए परम धम हैं। भारतीय जीवन के आधार म वही गुण और

सत्य हैं जिनकी अन्यान्य प्रकार से व्याख्या की गई है।

सक्षेपत भारतीय-सस्कृति की विगत पाच हज़ार वर्षों की परम्परा के आधार भूत तत्वो का हमने यहा परिचय देने का प्रयत्न किया है।

• • • "पजाब की प्राचीन संस्कृति"

गौर वण प्रभावपूण ग्रानन, विशाल वक्ष एव सुदीघ बाहु वाले आर्यों के प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व मे यह प्रदेश गौरवान्वित हुआ था। यह भू भाग ऋषि आश्रम-बहुल था। सृष्टि की गरिमा का अनुभव करन वाले तथा वैदिक मन्त्रो के द्वारा सवप्रथम उसका गान करने वाले ऋषि ही थे। दैनिक जीवन की अनिवाय आवश्यकताए इस प्रदेश से सुविधा से पूण हो जाती थीं, जिससे उनको जीवन के उन्नत प्रतिमान प्राप्त करने मे सहायता मिली थी। इस प्रकार एक महान सस्कृति के उपयुक्त विकास के केन्द्र की स्थापना करने मे वे समथ हो सके थे।

वदिक युग मे जहा आय सव प्रथम बसे थे, उसे सप्त-सिन्धु' नाम दिया गया है।[1] पश्चिम मे सिन्धु नदी से लेकर पूव मे सरस्वती तक इस प्रदेश का विस्तार था। बाद मे मनु ने सरस्वती तथा दृषद्वती नदियो के मध्यवर्ती भू भाग को 'ब्रह्मावत्त तथा शतद्रू (सतलुज) और इरावती (रावी) के बीच के प्रदेश को 'त्रिगत की सज्ञा प्रदान की'[2] ब्रह्मावत्त तथा त्रिगत के मध्यवर्ती प्रदेश का नाम उपलब्ध नही है, इससे अनुमान किया जाता है कि इन दोनो प्रदेशो की सीमा सरस्वती और शतद्रू के बीच कही मिलती थी और वही तक इस प्रदेश का विस्तार था। पटियाला नदी तथा सरस्वती[3] घग्घर की ही सहा

---

1 ऋग्वद 24 27। 2 मनु 11, 17—18 1

3 आर्यों द्वारा पवित्र समझी जाने वाली सरस्वती नदी आधुनिक पटियाला राज्य म से बहती थी, लेकिन वह वहा की रेत म पूणतया विलीन हो चुकी है। मजूमदार आर० सी०, एन्शेंट इण्डिया प 43 1

या नदियां है। इससे भी यही उचित प्रतीत होता है कि पटियाला नदी तथा घग्घर की घाटियां को ब्रह्मावर्त्त में ही सम्मिलित किया जाए। विशेष रूप से जबकि दृषद्वती नदी की स्थिति में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। कुछ विद्वान इसे आधुनिक चित्तंग बताते हैं,[1] तो दूसरे घग्घर।[2] अन्य कई विद्वानों ने इसे जगाधरी तहसील में सरस्वती से दक्षिण में बहने वाली भी बताया है, लेकिन सामान्य मत बहुमत यही है कि यह नदी सरस्वती के पूर्व में और यमुना के पश्चिम में बहती थी। इससे स्पष्ट है कि यह प्रदेश पहले 'सप्त-सिन्धु' का भाग था और बाद में ब्रह्मावर्त्त बना।

किसी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति उसके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विकास को प्रभावित करती है। भूमि के उपजाऊपन तथा मनोरम जलवायु ने ऋषियों को आश्रमों की स्थापना की प्रेरणा दी जहां जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं सुविधा से पूरी हो जाती थीं।

आर्यों के उद्गम की समस्या गम्भीर है। जिन विद्वानों ने उपलब्ध प्रमाणों को सूक्ष्मता से अवगाहन किया है, उनमें मतैक्य असम्भव सा है। वे बाहर से आये थे, और यहां बस गये थे अथवा उनका मूल स्थान भारतवर्ष है या ब्रह्मर्षि देश हो सकता है या मुल्तान या हिमालय प्रदेश[3]—यह विषय अब भी विवादास्पद है। यह कहा जा सकता है कि वे सर्वप्रथम इसी भाग में बसे थे और केवल यहीं अपनी संस्कृति का उन्होंने विकास किया था जिसका सर्वोत्कृष्ट उपलब्ध प्रमाण 'ऋग्वेद संहिता' है।

इस भाग के लोग 'इण्डो आर्य' वर्ग से संबंधित हैं 'इण्डो द्रविड़' वर्ग से नहीं जिसका समर्थन डा० रा० कु० मुकर्जी ने किया है।[5] 'सरहिन्द' को सरस्वती की घाटी मानते ही डा० मुकर्जी का भ्रम प्रारम्भ हो गया था जबकि वास्तव में सरहिन्द का 'सरस्वती' की घाटी से कोई सम्बन्ध नहीं।[6] इसके अतिरिक्त इण्डो आर्य तथा इण्डो द्रविड़ वर्ग की मुखाकृति की न केवल

1 रैप्सन ए शंट इंडिया, पृ 51
2 ऐलिफस्टन ऐंड टाड जे ए एस बी 181
3 मजूमदार, आर सी द हिस्ट्री ऐंड कल्चर आफ द इंडियन पीपुल भाग 1, पृ 215।
4 रैप्सन इ ज द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग 1 पृ, 38
5 मुकर्जी आर के हिंदू सिवलाइजशन, भाग 1, पृ 66

युग के आधुनिक लोगो से अपितु नवीनतम उपलब्ध तथ्यो से तुलना करते हुए हम इसे 'इण्डो आर्य' वर्ग के कही अधिक निकट पाते हैं। केवल कद और रग ही नही अपितु मुखाकृति भी इसका प्रमाण है।

मध्य एशिया के बोगजकोइ के 1400 ई० पूव के शिलालेख के आधार पर डा० रा० कु० मुकर्जी ने आरम्भ मे बसने वाले आर्यो के प्रभाव की स्थितियो पर स्वीकार किया है।[1] श्री रैप्सन ने ऋग्वेद के समय की गणना के लिए[2] इन शिलालेखो को कोई महत्व नही दिया है, किन्तु डा० मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत तक सशक्त है।[3] हम उनके मत का समथन करना चाहगे 'उचित गणना के अनुसार हमे ऋग्वेद का काल 2500 ई० पू० मानना चाहिए[4]। डा० मजूमदार पाश्चात्य महान् विद्वान विन्टरजि से सहमत हैं कि वेदो का समय ईसा के पूव दूसरी या तीसरी शताब्दी तक आ जाता है।[5] ऋग्वेद का यह काल निर्धारण मक्समूलर द्वारा प्रतिपादित समय मे मिलता है। डा० मुकर्जी द्वारा अनुमानित समय लगभग यही है। कुछ विद्वान इससे भी अधिक सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। हम हापकिन्स कीथ रैप्सन तथा अन्यो के इस विचार से सहमत होना चाहगे कि 'ऋग्वेद की ऋचाओ का बहुत बडा भाग वतमान अम्बाला नगर के दक्षिण म सरस्वती के चतुर्दिक प्रदेश मे रचा गया था।[6]

इस भाग के लोगो की खान की आदतें विशिष्ट थी। यव (जौ) मुख्य पदाथ था।[7] वे जौ और घी से रोटिया बनाते थे। घाटे अनुभव करता है कि ऋग्वेद मे चावल का सकेत नही आया है।[8] किन्तु डा ए वी दास के अनुसार चावल (धान या धान्य) दूसरा महत्वपूण खाद्य था।[9] अस्तु करम्भ और धान उस समय प्रयोग मे आने वाले अन्य अनाज थे।[10] फल[11] और सब्जिया उनके

---

1 मुकर्जी आर के हिन्दू सिवलाइजेशन, भाग 1 पृ 83
2 रैप्सन इ ज द कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया भाग 1, पृ 99
3 मुकर्जी, हि स, भाग 1 पृ 83 4 मुकर्जी, हि सि भाग 1 पृ 84
5 मजूमदार, ए इ, पृ 41
6 मजूमदार, हि क इ पी, भाग 1 पृ 244 रप्सन, कै हि इ भाग 1, पृ 71
7 ऋग्वेद, 1, 23, 15 1, 117, 21 1
8 घाटे, वी एम लैक्चस आन ऋग्वेद, पृ न 164
9 दास, ए बी ऋग्वदिक कल्चर, पृ 126
10 ऋग्वेद 8, 80, 2 11 ऋग्वेद 10, 146 51

प्त किया गया था। आज्ञाकारिणी तथा प्रिय पत्नी[1] को अपनी सुन्दरता से सजाने का शौक होता था। वह पति के आराम का ध्यान रखती हुई उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करती थी।[3] अपने पति की सहधर्मिणी के रूप में धार्मिक उत्सवों पर वह महत्वपूर्ण कार्य पूरा करती थी।[4] वह अपने सभी कर्त्तव्यों को अच्छी तरह पूरा करने में अत्यन्त सावधान थी। इसलिए वह 'घर की शोभा' सिद्ध हुई।[5] माँ के रूप में वह सन्तान प्रेमी एवं उनका ठीक से पालन करने वाली थी।[6] सन्तानों में विशेषतः पुत्रों के लिए प्रार्थना की जाती थी,[7] साधारणतः पुत्र पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे,[8] किन्तु पुत्र उत्तराधिकारी के अभाव में पुत्रियाँ पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी हुआ करती थीं।[9] विधवा माँ के लिए भी कुछ प्रबन्ध था। कभी कभी अविवाहित पुत्रियों को भी अपनी स्वतन्त्र आजीविका के लिए सम्पत्ति में से कुछ भाग मिल जाता था।[10] पुत्रों की भाँति पुत्रियों को भी शिक्षा दी जाती थी। माँ उनको गृह कर्म की शिक्षा देती थी। सरक्षकों के सम्मुख युवा पुत्रियों के लिए सुयोग्य वर खोजने की समस्या रहती थी। साधारणतः समाज में[11] एक विवाह प्रचलित था किन्तु हम बहु विवाह के उदाहरण भी पाते हैं।[12] यद्यपि इससे परिवार में अप्रसन्नता आती थी।[13] ऋग्वेद में विधवा विवाह का कोई उदाहरण नहीं है।[14]

साधारणतः विधवाओं का आत्मदाह (सतीप्रथा) प्रचलित न था[15] यद्यपि इस बात के संकेत हैं कि यह प्रथा अज्ञात न थी। उस युग में बाल विवाह अज्ञात था।[16]

बच्चों को शिक्षा-हेतु ऋषि आश्रमों में भेजा जाता था। इस प्रकार की शिक्षा बच्चे के चतुर्दिक व्यक्तित्व को उन्नत करती और उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत मनुष्य बनाती थी। उससे केवल आजीविका अर्जित करने की ही आशा

---

1 वही 1, 122 2, 1
2 ऋग्वेद 4, 58, 9 1
3 ऋग्वेद 4, 3 2
4 ऋग्वेद 8, 31
5 ऋग्वेद 1, 66, 3
6 ऋग्वेद 7 81, 4
7 ऋग्वेद 8 1 13
8 ऋग्वेद 1, 70 5
9 ऋग्वेद 3, 31
10 ऋग्वेद 2, 17 7
11 ऋग्वेद 4,3,2 10 71,1
12 ऋग्वेद 4, 58 8
13 ऋग्वेद 10 33, 2
14 ऋग्वद द्वास ऋ क , प 255
15 द्वास ऋ क , पृ 256
16 ऋग्वेद 10, 18, 8

न की जाती थी, अपितु वे आतरिक गुणा एव जीवन के उच्चतम मूल्या को विकसित करते थे।

कृषि और पशु पालन प्रमुख उद्योग थ। कभी-कभी केवल दो ही नही, आठ और इससे भी बढकर बारह बैल तक हल म लगाये जाते थे।[1] जुताई, बुआइ, निराई और कटाइ कृषि के उत्पादन की प्रमुख प्रक्रिया थी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि (जौ) प्रमुख फसल थी। खेतो की सिंचाई के लिए कूपा[2] और कुल्याओ[3] का उल्लेख मिलता है। गाय और बैल उनकी प्रमुख सम्पत्ति थी।[4] विशेषत ऊनी वस्त्रा को बुनाई अन्य उद्योग था।[5]

नारिया इसमे विशेष आनन्द लेती थी।[6] बढ़ई का प्रमुख काय रथ बनाना था[7]। कभी कभी इसम सुन्दर नक्काशी भी होती थी।[8] लुहार[9] और सुनार अपने काम म लगे रहते थे। चमड़े के काम का भी सकेत है। ऋग्वद मे नाइ कायरत वर्णित है।[10] समाज म रोगा के निदान के लिए चिकित्सक थे।

वणिक[11] केवल यही काम नही करता था, अपित विदेशो म भी व्यापार करता था।[12] साधारणत वस्तु-विनिमय होता था। डा० मजूमदार का विचार है कि शायद सिक्के म भी धन का प्रयोग होता था।[13] अस्तु गाय धन-परिवतन के लिए महत्वपूण इकाई थी।[14]

इन व्यवसायो ने समाज म वर्गों क विकास म सहायता की। यद्यपि ऋग्वेद के दशम मण्डल मे हम जाति का उल्लेख मिलता है।[15] फिर भी हम कह सकते हैं कि ये जातिया उस समय विकसित नही हुइ थी, इन्ह जिस रूप म हम समझते हैं।[16] अत स्पष्ट है कि वग ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य, शूद्र व्यवसायो, कत्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो पर आधारित थे। एक ही पिता के पुत्र विभिन्न व्यवसायो म प्रवश कर विभिन्न वर्गों के सदस्य हो जाते थे।

---

1 ऋग्वद 10, 101, 4
2 ऋग्वेद 10, 101 7
3 ऋग्वद 3, 45, 3
4 ऋग्वेद 5, 4 11
5 ऋग्वद 7, 33 9
6 ऋग्वद, 1, 92 3
7 ऋग्वेद, 9, 112, 1
8 ऋग्वद, 10, 86 5
9 ऋग्वेद, 5, 9, 5
10 ऋग्वद 1 122, 2
11 ऋग्वद, 57, 63 1
12 ऋग्वद 10, 122, 11
13 ऋग्वद, 10, 142, 4
14 ऋग्वद द्वाम ऋ क प 149
15 मजूमदार, ए इ, प 49
16 ऋग्वद, 4, 22, 10
17 ऋग्वद 10, 90, 12

इस प्रकार के समाज में उत्सवों का विशेष महत्त्व था। ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर शिक्षा, विवाह तथा मृत्यु से सम्बन्धित उत्सव उल्लिखित हैं। ये बच्चे जो शिक्षा के हेतु पर्याप्त बड़े हो जाते थे, विशेष उत्सव पर अध्यापकों को सौंप दिए जाते थे।[1] विवाह के रीतिमय उत्सव में शिष्ट वचन के द्वारा सामाजिक अनुभूति दी जाती थी। इस उत्सव पर पति-पत्नी से सम्बन्धित प्रत्येक बात उनके परस्पर और समाज के प्रति अधिकार और कर्तव्यपरक बताई जाती थी[2]। मृत्यु के अवसर पर दाह-पद्धति का भी उल्लेख है।[3] सामाजिक मूल्य भली भाँति स्थापित हो चुके थे, किन्तु समाज की संविधि कानून तथा नीति के विषय में ऋग्वैदिक साहित्य में हमें बहुत कम ज्ञान मिलता है। डाकुओं के साथ-साथ चोरों का भी उल्लेख मिलता है।[4] घुड़दौड़, रथ-दौड़, नृत्य तथा संगीत मनोरंजन के मुख्य एवं साधन थे। द्यूत[5] और मद्यपान[6] प्रिय मनोरंजन थे किन्तु कभी कभी इनकी सीमा पार हो जाती थी। कदाचित यही कारण है कि वैदिक कवि ने द्यूत खेलने वाले की दयनीय स्थिति का विशद चित्र खींचा है और जीवन में सफलता के लिए ईमानदारी और परिश्रम का आदेश रखा है।

राजा राज्य का प्रधान होता था।[7] वह एक प्रकार की मन्त्री-परिषद् रखता था। पुरोहित केवल धार्मिक नेता ही नहीं होता था, अपितु वह अन्य विषयों में उसका मित्र तथा पथ प्रदर्शक भी होता था,[8] सेना का प्रमुख सेनानी अति लाभप्रद एवं महत्त्वपूर्ण होता था।[9] लोगों में दो विभिन्न संस्थाओं सभा और 'समिति' के संगठन होते थे।[10] यद्यपि इनको हम लोगों के संगठन का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं मान सकते, फिर भी राजा उनसे सचेत रहता था। वह इन संगठनों के द्वारा जनमत जानने का प्रयत्न करता था और इसी प्रकार राजा की निरंकुशता[11] बाधित रहती थी।

---

1 दास, ऋ. क., पृ. 129

2 दास, ऋ. क., पृ. 392

3 दास, ऋ. क., पृ. 392

4 विवाह संस्कार के विशेष विवरण के लिए देखिए दास ऋ. क. पृ. 360

5 ऋग्वेद 10, 18, 10—13

6 ऋग्वेद, 7,55 3,7,86,5

7 ऋग्वेद 8, 2 12

8 ऋग्वेद, 7, 86, 6

9 घाटे, ल. रि. पृ. 168

10 ऋग्वेद, 7, 83, 4

11 ऋग्वेद 8 4 9 10, 87, 6

12 ऋग्वेद, 9 96, 1

13 मुकर्जी, हि. क. पृ. 98

प्रकृति के प्रति राग केवल प्रशसा के लिए ही नहीं, अपितु प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए भी उत्पन्न कर दिया था। जबकि कुछ व्यक्तियों ने अदृश्य परमसत्ता की कल्पना की अन्य व्यक्तियों ने उस की उपासना पद्धतियों के प्रायोगिक रूप बनाए। आकाश, पृथ्वी, मरुत, वर्षा, सूर्य, पवन, और उषा उस अलौकिक शक्ति के चिन्ह समझे जाते थे।[1] इसके अतिरिक्त प्राकृतिक अग्नि तत्व भी जो उस आरम्भिक अवस्था में अत्यन्त लाभप्रद था, महत्ता के साथ उल्लिखित है।[2] युग में शक्तियों की पूजा धर्म का एक विशिष्ट अंग थी, क्योंकि वे जीवन में बहुत लाभप्रद थीं। यज्ञ पूजा की एक विधि थी, जिसमें क्षीर, अन्न घी तथा मांस देवों को प्रसन्न करने के लिए चढ़ाए जाते थे।[3] यह सब स्पष्ट है कि उस समय देव पूजा का धर्म में विशेष स्थान था।

सक्षेप में, उस युग में धर्म व्यावहारिक उपयोगितावादी था। यह धर्म उच्च वर्ग का धर्म था और धर्माधिकारी मध्यम और निम्नवर्ग की अपेक्षा उच्च-वर्ग के होते थे। ईश्वर जिसकी उपासना की जाती थी, सर्वोच्च शक्ति समझा जाता था और उसकी प्रतिमाएं मन्दिरों में स्थापित की जाती थीं। व्यक्ति ईश्वर की प्रशंसा करते थे उसको बहुमूल्य भेंटें चढ़ाते थे तथा स्वस्थ वरदानों वैभव, और स्वस्थ जीवन के लिए प्रार्थना करते थे।[3] उस समय के धर्म का यह सार था।

ऋषि भी आत्मा और ईश्वर को पूजते थे। उनको भी जीवन और जगत की समस्याओं का सामना करना पड़ता था। प्रकृति के नियम, जो ऋतुओं तथा प्रकृति की अन्य शक्तियों को शासित करते थे, उनका आश्चर्यजनक रूप उत्सुकता जगाते थे। वे इस रहस्य को सुलझाने के लिए वचन ... । अतः उन्होंने मानव जीवन की भौतिक तथा बौद्धिक सभी समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर दिया।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस क्षेत्र में समाज बहुत विकसित था। इसने आर्थिक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक दृष्टि से अपने मूल्य और अपनी महत्ता स्थापित कर ली थी। इसे आर्यों का महान संस्कृति का आरम्भिक आदर्श कहा जा सकता है, जो भारत को गौरवान्वित करता है।

● ⊙ ●

---

1 मजूमदार ए इ प 52
2 घटे, वै रि पृ 154
3 हि क, प 107.
4 नाग वै रि प 124

• • • बाण कालीन समाज और संस्कृति

मानव के माध्यम से सस्कृति समाज म रूपायित होती है। मानव मन की प्रवत्तिया रुचियो, शक्तिया, गुणा आदि पर उनकी जीवन पद्धति तथा क्रिया कलाप आधारित होते हैं। समाज मे प्रचलित रीति रिवाज, परम्पराए मान्यताए तथा जीवन के मूल्य चाहे वे किसी भी कलाकति के माध्यम से अभिव्यक्ति पावें, युग विशेष के समाज का सास्कतिक रूप प्रस्तुत करते हैं। अमूत सस्कृति के उपादानो तथा सामाजिक अवस्था को जानने का सर्वोत्तम साधन उस युग का साहित्य ही होता है। और यदि साहित्यकार की सक्ष्मवेक्षिणी दष्टि समाज के वाह्यावरण को चीर कर न केवल उस के अस्पष्ट परन्तु महत्वपूर्ण तथ्यो तक पहुच जाती है तथा उसका मनोवज्ञानिक मन विभिन्न स्तरो क्षत्रो व अवस्थाओ के मानव-मन क अन्तर्भावो को भी जानने और चित्रित करने म समथ है तब तो कहना ही क्या ? बाण की सूक्ष्म दष्टि न केवल प्रत्येक पात्र की वेष भूषा क चित्रण मे हा लक्षित होती है अपितु मानव मन के अन्तर्भावो को भी सशक्त साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करती है। उनकी इस सूक्ष्मवेक्षिणी दष्टि न ही उन्हे उत्कृष्ट साहित्यकारा की कोटि म ला बिठाया। न केवल एतिहासिक अपितु सामाजिक एव सास्कतिक दष्टि स हष चरित अपन युग का जैसा चित्र उपस्थित करता है वसा अ य प्राचीन ग्रन्था म कम ही देखन को मिलता है। यही कारण है कि उस युग का सांस्कतिक इतिहास प्रस्तुत करन के लिए इतिहासकारा को हषचरित स अच्छा साधन तथा आधार न मिल सका। इस छोटे से लख म उस युग क समाज और सस्कृति का सर्वांगाण परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया जा सकेगा।

उच्छवास के आरम्भ मे जब बाण लौटकर घर आया, तो वहां उसने ब्राह्मणगृह का जो चित्र खीचा है, उससे उनके क्रियाकलापों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। अध्ययन अध्यापन उनका परम्परागत प्रमुख कार्य है, इसलिए 'अनवरताध्ययनध्वनिमुखर' निरन्तर अध्ययन में लगे हुए ध्वनि करते हुए शिष्यों के दर्शन होते हैं। इन शिष्यो में बालक बालिकाएं दोनों ही थे। मस्तक को त्रिपुण्ड भस्म से उज्जवल कर सोम यज्ञ के लोभी बटु भी वहां उपस्थित थे। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के घरों में अध्यापन के साथ साथ यज्ञ करने की विधि भी बताई जाती थी। उपयुक्त सामग्री को साधन बनाकर आंगन में वेदी का भी निर्माण किया जाता था। कभी कभी शुकसारिकाएं यह अध्यापन का कार्य करके गुरुओं को विश्राम का अवसर प्रदान करती थी। बाण स्वयं ब्राह्मण वंश परम्परा में हुआ था, उस के उचित ही उसका अपना घर भी था। और गांव में ही सम्भवत व्याकरण, न्याय मीमांसा, काव्य और वेद पाठ का अध्ययन अध्यापन भी होता था। जीवन के अन्यान्य क्षेत्रो में सम्बन्ध रखने वाली उसकी मित्र मण्डली को देखने से उसकी बहुविध रुचियों का परिचय मिलता है। गुरुकुल एवं ऋषि आश्रम में शिक्षा पाने से, विद्वन्मण्डली कलावतो तथा राजकुल के परिचय में आने से उसका चतुर्विध ज्ञान एवं व्यापक अनुभव ही उसकी कृतियों के माध्यम से साकार हुआ है। उस युग का ब्राह्मण युवक एक सीमा विशेष में ही आबध्द न था, अपितु बाण की तरह इत्वर (अवारा) भी हो जाता था। क्षत्रिओं का अलग से कोई वर्णन नहीं किया गया है, लेकिन कहीं कहीं सैनिकों के चित्र देखने को मिलते हैं, सम्भवत यह क्षत्रिय सैनिकों के ही हों। वे लाल रंग का कंचुक या छोटी कुर्ती कस कर पहने हुए होते थे। उत्तरीय की छोटी सी पगड़ी सिर पर बांधी हुई थी तथा 'अनवरत व्यायामकृशशरीरेण लगातार व्यायाम करने से गठे हुए शरीर वाले होते थे। इनके पास तलवार या छोटी छुरी भी होती थी। उस युग के राजा प्राय क्षत्रिय न होकर वैश्य थे हर्ष भी इसके अपवाद न थे। उनमें वैश्यवृत्ति का विकास न होकर क्षत्रिय राजकुमार के उपयुक्त गुणों का विकास हुआ था। राजकुमारवत उन्होंने सभी विद्याओं के साथ साथ शस्त्र विद्या का अभ्यास कर उस में भी विशेष निपुणता प्राप्त की थी। सम्भवत इसीलिए भाई के हत्ता गौडाधिप के मारने की उन्होंने प्रतिज्ञा भी की थी। ब्राह्मणों से प्रभावित होने के कारण न केवल वह कवि और विद्वानों का आदर करने वाला और मित्र ही बन गया था अपितु स्वयं भी नाटककार था। आरम्भिक छह वर्षों में उसने युद्ध कर शत्रुओं का नाश किया और अगले तीस वर्षों में राज्य को साम्राज्य में परिणत किया तथा सुख, शांति

मन हर्ष का यह भय कि पिता की मृत्यु को सुन कर पुरुष सिंह राज्यवर्धन (न गृहीयाद्वल्कले नाश्रयेद्वा राजर्षिराश्रमपद न विशेद्वा पुरुषसिंहोगिरिगुहाम्) वल्कल न ग्रहण कर लें अथवा ऋषि आश्रम का आश्रय न ले लें अथवा गिरी गुफा म न बठ जावें तथा हर्ष के द्वारा उनका स्वागत और पुन क्षत-विक्षत, शोकाभिभूत राज्यवर्धन द्वारा भी सभा म स्वत शस्त्र और राज्य त्याग का स देश इस बात का प्रमाण है कि हर्ष ने बडे भाई का राज्य छीना नहीं। यह त्याग भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। इतना ही नहीं, उसी समय जब दुष्ट मालवाधिपति द्वारा महाराज ग्रहवर्मा की मृत्यु तथा राज्यश्री को कद करने का वृत्ता त सुना तो पुन हर्ष को राजधानी म छोड कर वह उसे जीतने और राज्यश्री को वापिस लेने निकल पडा। राज्यवर्धन ने मालव नरेश को तो आसानी स ही पराजित कर दिया, लेकिन गौड-नृप के औपचारिक सम्मान से उस पर विश्वास करने के कारण निहत्था वह उसी के द्वारा एका त म मार दिया गया। (मुक्तशस्त्र एकाकिन विश्रब्ध स्वभवने व्यापादितम श्रौषीत्) तब क्रोधित हर्ष उससे बदला लेने और राज्यश्री को ढ ढने निकला। सम्भवत गौड नृप (शशाक ?) हर्ष से डर कर स्वत ही लौट गया और किसी प्रकार ब दीगृह से छूट कर राज्यश्री भी विध्याटवी म चली गई। बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र क शिष्य द्वारा उसे राज्यश्री का पता लग गया और उस से मिलन हो गया। सिंधुराज प्रमथ्य सिंधुराज को जीत कर भी हर्ष न अपने राज्य म मिलाया था और पर्वतीय राजाओं स भी वह कर लेता था। तथ्यात्मक दृष्टि से उपरलिखित घटनाए उस युग के राजनैतिक इतिहास का स्वरूप स्पष्ट करती है और इस कृति म उपलब्ध राजकुल तथा जन सामा य नगर और ग्राम समाज और व्यक्ति स्त्री और पुरुष सभी क चित्र तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था का व्यापक चित्रण उपस्थित कर युग के इतिहास को पूरा कर देते हैं।

बाण ने समाज के विभि न स्तरो का उल्लेख अपनी कृतियो मे किया है। उस युग म ब्राह्मणो का प्रमुख स्थान था मुख्य मत्री स लेकर कचुकी तक राज्य के सभी विश्वस्त पदो पर व ही आसीन थ। दूसरी ओर शिक्षक, गुरु और ऋषि आश्रमो के आचार्य होने क कारण भी समाज म उनका विशेष आदर था। सम्भवत समाज म ब्राह्मणो क इस सम्मा य स्थान के कारण ही बाण को कहना पडा— असस्कृतमतयोपि जात्यव द्विज मानो माननीया असस्कृत बुद्धि वाले भी ज म स ब्राह्मण होन क कारण आदरणीय हैं। द्वितीय

प्रसार है। महाश्वेता और पुण्डरीक का प्रेम तथा कादम्बरी और चन्द्रापीड का विभिन्न काम दशाओं में से गुजरता एक ही दिशा में प्रयाण है। राज कुल में गृहस्थ जीवन के विकास के अतिरिक्त ग्रामीण गृहस्थ के चित्र भी दर्शनीय हैं। जंगल के ग्रामीण लकड़ी काटने के लिए जाते समय घर का राशन छिपाकर बुड्ढों को रखवाली के लिए बिठा जाते थे। जहां कहीं उपज होती, वे पैदावार के बोझ को सिर पर लाद कर घर ले आते थे। घरों के आस पास की भूमि पर सब्जियों की बर्लें लगाई हुई थीं। दुर्लभ खाद्य पदार्थों को अवसर पाकर सुगृहिणियां संगृहीत कर लेती थीं। मधु भी प्रायः इन घरों में रहता था। इस प्रकार राजकुल और वन ग्राम के गृहस्थ जीवन का परिचय हमें अवश्य मिलता है, पर जन सामान्य के गृहस्थ चित्रों के बहुतायत से दर्शन नहीं होते।

चन्द्रापीड को राज्य सौंपकर राजा तारापीड का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश, इस आश्रम के महत्व का परिचायक है। उपभोग के बाद त्याग की आवश्यकता है, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति की। राज्यवर्धन ने भी हर्ष को राज्य सौंप कर इस त्याग का ही परिचय दिया था। स्वतः हर्ष ने भी अन्यान्य प्रदेशों को जीत कर सभी को पूर्णतया अपने राज्य में न मिलाकर केवल कर लेने की व्यवस्था कर कई राजाओं को उनके राज्य लौटा दिए थे। वानप्रस्थ के मूल में जो त्याग या निवृत्ति की भावना काम कर रही है वही ऋषि-आश्रमों को भी उचित रूप से विकसित होने में सहायक सिद्ध होता है। और महाराज प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के बाद उनके कुछ सेवक मित्र एवं मंत्री शोकाभिभूत होकर संसार का परित्याग कर पर्वतों पर चले गये थे (कंचितगृहीतकाषाया) वहां उन्होंने कपिलदर्शन शास्त्र का अध्ययन भी किया था। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की परम्परा अभी एकदम समाप्त नहीं हुई थी और समाज में भी किसी न किसी प्रकार उसका महत्व बना ही हुआ था।

समाज के विभिन्न स्तरों के लोगों का परिचय पाने के लिए बाण की मित्र-मण्डली पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना ही पर्याप्त होगा। वारबाण और वासबाण नामक विद्वानों से उसका परिचय था। अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि ईशान, प्राकृत के लेखक वायुविकार तथा गीतकार वेणी भारत बाण के साहित्यकार मित्र कहे जा सकते हैं। कथाकार जयसेन, पुराणपाठक सुदृष्टि तथा सुभाषित गायक बंदी जन अनंगबाण और सूचीबाण साहित्यिक वातावरण को बनाए रखने वाले मित्रों का एक अन्य समुदाय था। संगीतकारों में मृदंग बजाने वाला जीमूत, वंशी बजाने वाले मधुकर तथा पारावत तो थे ही इन के साथ सोमिल

और समृद्धि का प्रसार किया। उस युग म अस्पश्य न हो, एसी बातें नहीं, लेकिन बाण के वणना म इसका बहुतायत से उल्लेख नही मिलता। हाँ, कादम्बरी म राजा शूद्रक के पास शुक को लाने वाली चाण्डाल कन्या के विषय म उसने अवश्य कहा है— अमूर्तामिव स्पर्शवर्जितामालेख्यगतामिव दर्शनामात्र फलम् स्पशवर्जित अर्थात अछूत चित्रलिखित की तरह चाण्डाल कन्या—जिसे केवल देखा जा सकता था और छू नहीं सकते थे। इससे स्पष्ट है कि वण व्यवस्था की यह अस्पश्यता भी समाज म किसी न किसी रूप म प्रचलित थी।

ब्रह्मचर्याश्रम का उस युग म भी विशेष महत्व था। यद्यपि नालन्दा का उल्लेख बाण की कृतियो म उपलब्ध नहीं, तो भी साहित्यकारो का मत है कि यह उस युग की प्रधान शिक्षा सस्था थी। जो भी हो इतना अवश्य है कि वह युग आश्रमो व गुरुकुलो का युग था। राज्यश्री को ढूढते ढूढत हष दिवाकर मित्र के आश्रम म जा पहुचता है। यह बौद्ध गुरु का आश्रम था। यहा न केवल दस शीलो का उपदेश दिया जाता था अपितु जातक-कथाएँ भी सुनाई जाती थीं। इस प्रकार विद्याभ्यास और चरित्र का विकास साथ साथ चलता था। दिवाकर मित्र का उज्जवल चरित्र इस आश्रम की सफलता का मूल कारण कहा जा सकता है। कादम्बरी मे दण्डकारण्य म अगस्त्य के आश्रम तथा जाबालि ऋषि के जिस आश्रम का उल्लेख है उससे जावित वदिक परम्परा का बोध होता है। वहा कृष्णमृगसार निभय घूम रहे थे। वेदपाठी शिष्यो के साथ मुनिगण समिधा, दर्भ पुष्प आदि लेकर आ रहे थ। सियाए हुए लगूर बुड्ढे और अधे तपस्वियो का हाथ पकड उठाए इधर उधर ले जाते थे। कहा यज्ञ हो रहे थे कही मुनि ध्यान लगाये बठे थे तो कहा योग का अभ्यास कर रहे थ। सम्भवत उस युग मे वदिक और बौद्ध शिक्षा के आश्रमो का अलग अलग विकास हो रहा था। ब्राह्मण घरो की पाठशालाओ का उल्लेख हो चुका है। ब्रह्मचर्याश्रम विभिन्न विद्यायो के अभ्यास तथा चरित्र के विकास का समय था।

गहस्थाश्रम भारतीय जीवन पद्धति का मरुदण्ड है। ववाहिक परम्परा इसका आधार है ता सतति फल फूल। सात्विक प्रम दाम्पत्य का मूल तत्व है। हष के जन्म पर विकसित गहस्थ के उल्लास का परिचय मिलता है। राज्यश्री का वर चुनना और ग्रहवर्मा से उसका विवाह नवीन गहस्थ के महत्व को स्पष्ट करता है। भाई बहन के सम्बन्ध ने ही हष को राज्यश्री को ढूढन पर विवश कर दिया था। तारापीड की सतान प्राप्ति के लिए साधना तथा कुमार को विधिवत शिक्षा देकर युवराज पद के उपयुक्त बनाना इसी भावना का

भारतीय सस्कृति को सामाजिक जीवन मे अनुप्राणित करने वाले सस्कार है। इसीलिए यन्त सस्कारो ने प्राय उत्सवो का रूप धारण कर लिया है, क्योकि उनका मनाना एक औपचारिकता मात्र न होकर परिवार, और समाज म उसकी महत्ता और मान्यता को बनाए रखना है। और भारतीय जीवन पद्धति इन सस्कारो का ही ताना-बाना है।

प्रभाकर वधन का प्रात साय आदित्यहृदयमत्र का जाप सतान के लिए ही था। परिणाम स्वरूप यशोवती का गर्भाधान सस्कार हुआ। इस अवस्था म वह किस प्रकार सहेलियो का सहारा लेकर देव वदना के लिए जाती थी इसका बाण ने उल्लेख किया है। राज्यवधन के जन्म के समय यह उत्सव एक मास तक चला था। पुन हष के जन्म समय तारक ज्योतिषी ने उस के सम्राट होने के लक्षण घोषित कर दिए थे। एक ओर ब्राह्मणो ने वेद मत्रो का गान आरम्भ कर दिया तो दूसरी ओर शख दुदुभी आदि बहुत से मगलवाद्य बजने लगे। राजकुल मे स्तर या अवस्था विशेष का विचार छोडकर नाच गान प्रारम्भ हो गया। भद्र महिलाए और वेश्यायें सभी समान रूप से विलास मग्न हो गई। राज्य के सामान्य नियमो के बधन ढीले हो गए। अन्त पुर म घुस जाना अपराध न रह गया और सभी जगह प्रतिहारियो का दबदबा कम हो गया। नगर मे भी प्रसन्न हो कर लोगो ने दुकानें लूट लीं, सम्भवत यह मिठाई की दुकानें होगी। नगर भर के लोग इस जन्मोत्सव पर नाचने म मग्न हो गए। (प्रवृत सकलकटकलोक पुत्र जन्ममहोत्सवो महान।) यह नाच-गान का प्रोग्राम एक ही दिन नही लगातार कई दिनो तक चलता रहा और पनिहारिनें, दासिया, सामन्त स्त्रिया सभी एक साथ नाचने लगी। कही कुटनिया नाचते नाचते सामतो से लिपट गई तो कही दासियो से। इस प्रकार समाज के सभी स्तरो और अवस्थाओ के लोगो को आनन्द मग्न देखत ही बनता था। राजा ने इस शुभ अवसर पर कैदियों को मुक्त कर दिया (मुक्तानि बधन वृन्दानि)। यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी और आज भी जीवित है।

तारापीड को स्वप्न म पत्नी के मुख मे चन्द्रमा के प्रवेश करने के दशन हुए थे, अत उसने पुत्र का नाम चन्द्रापीड रखा। नामकरण सस्कार के समय उसने ब्राह्मणो को बहुत सी स्वण मुद्राएं भी दी। उसका अनुसरण करते हुए मत्री शुकनास ने भी अगले दिन अपने पुत्र का नाम वैशम्पायन रखा और बाद म चूडाकरण आदि सस्कार भी विधिवत हुए। बाण ने अपने उपनयन, समावतन आदि सस्कारो का भी उल्लेख किया है। राज्यश्री के विवाहोत्सव का विस्तार

और ग्रहान्त्यि गवये भी थे। शिखण्डक और ताडविक नतरा के साथ नतकी हरिणिका की उपस्थिति इस बात की प्रमाण है कि केवल राज्य दरबार मे ही नतकियो का स्थान न था अपितु जन समाज म भी उ ह मा यता प्राप्त था। चित्रकार वीरवर्मा और मिटटी के खिलौने बनाने वाला कुमारदत्त भी उसके यव साथी कलाकार मित्रो मे से कुछ थे। सोने के व्यापारी स्वणकार चामीकार तथा हैरिक मि धुपेण भी अवश्य ही सु दर आभूषणो का निमाण करते रहे होगें। भिपग मदारक और विपवैद्य मयूरक जहा औपधियो से लोगो का उपचार करते थे वहा रसायनिक विहगम और मत्रसाधक कराल भी सामाजिक व्याधियो के प्रकोप को शात करते थ। साधु स यासियो म से सभी सम्प्रदाय वालो से उसने अपना सम्ब ध बनाया हुआ था। वदाती सुमति और परिव्राजक ताम्रचूड के साथ साथ शव वक्रघाण, जन वीरदव तथा बौद्ध भिक्षुणी चक्रवाकिका सभी उसकी मित्र मण्डली के सदस्य थ। बहुत सम्भव है कि विधिवत शिक्षा बाण को इत्वर (अवारा) बनाने म जुआरी आखण्डल, धूत, भीमक तथा ए द्रजालिक चकाराक्ष का ही हाथ रहा हो क्योकि चपल युवक बाण का इन से भी सम्ब ध रहा था और इनका मनोरजन या व्यवसाय पासा खेलना आदि ही था। समाज के निम्न वग के कुछ परिचयो को भी बाण ने अपने मित्र वग म सम्मिलित किया है। उनम ताम्बूलदायक चडक प्रसाधिका कुरगिका तथा सवाहिका केरलिका विशेष है।

इससे जहाँ बाण की व्यापक रुचि और लोक प्रियता का पता चलता है, वहा समाज के विभि न क्षेत्रो, रुचियो व व्यवसायो के यक्तियो से भी हमारा परिचय होता है। विभि न व्यवसाय होते हुए भी वैयक्तिक रुचि की समता मित्रता का आधार होती है और बाण की मित्र मण्डली म तीन चार स्त्रियो का होना भी इस बात का प्रमाण है कि समाज म स्त्री और पुरुष विचार विनिमय एव मनोविनोद के लिए आत्मीयता एव स्वत त्रता पूवक मिल सकते थे। इन व्यवसायो के अतिरिक्त राजसेवको का भी बाण ने उल्लेख किया है। सामा यत राजसेवको को विश्वसनीय होते हुए भी राजा की इच्छा के अनुरुप चलना पडता है। फलस्वरुप न उनका स्वाभिमान रह जाता है और न स्वत त्र व्यक्तित्व। अनावश्यक चापलूसी और खुशामद मे ही उनका जीवन भार बना हुआ होता है। नौकरी म बार बार उ ह अवाछित एव अनुपयुक्त काय भी करने पडते हैं। कीचड की तरह सबो को नीचे ले जाने वाला दास शब्द बडा कठोर है। (प्रवलपक इव सवमधस्ता नयति दारुणा दास श द)

भारतीय सस्कृति की सामाजिक जीवन मे अनुप्राणित करने वाले सस्कार है। इसीलिए यहा सस्कारो ने प्राय उत्सवो का रूप धारण कर लिया है, क्योकि उनका मनाना एक औपचारिकता मात्र न होकर परिवार, और समाज म उसकी महत्ता और मान्यता को बनाए रखना है। और भारतीय जीवन पद्धति इन सस्कारो का ही ताना-बाना है।

प्रभाकर वधन का प्रात साय आदित्यहृदयमन्त्र का जाप सतान के लिए ही था। परिणाम स्वरूप यशोवती का गर्भाधान सस्कार हुआ। इस अवस्था म वह किस प्रकार सहेलियो का सहारा लेकर देव वदना के लिए जाती थी इसका बाण ने उल्लेख किया है। राज्यवधन के जन्म के समय यह उत्सव एक मास तक चला था। पुन हष के जन्म समय तारक ज्योतिषी ने उस के सम्राट होने के लक्षण घोषित कर दिए थ। एक ओर ब्राह्मणो ने वद मन्त्रो का गान आरम्भ कर दिया, तो दूसरी ओर शख, दुदुभी आदि बहुत से मगलवाद्य बजने लगे। राजकुल मे स्तर या अवस्था विशेष का विचार छोडकर नाच गान प्रारम्भ हो गया। भद्र महिलाए और वेश्यायें सभी समान रूप से विलास मग्न हो गई। राज्य के सामान्य नियमो के बधन ढीले हो गए। अन्त पुर मे घुस जाना अपराध न रह गया और सभी जगह प्रतिहारियो का दबदबा कम हो गया। नगर म भी प्रसन्न हो कर लोगो ने दुकानें लूट ली, सम्भवत यह मिठाई की दुकानें होगी। नगर भर के लोग इस जन्मोत्सव पर नाचने म मग्न हो गए। (प्रवत-सकलकटकलोक पुत्र जन्ममहोत्सवा मत्तान।) यह नाच-गान का प्रोग्राम एक ही दिन नही, लगातार कई दिनो तक चलता रहा और पनिहारिनें, दासिया, सामन्त स्त्रिया सभी एक साथ नाचने लगी। कहीं कुटटनिया नाचते नाचते सामतो से लिपट गइ तो कही दासियो से। इस प्रकार समाज के सभी स्तरो और अवस्थाओ के लोगो को आनन्द मग्न देखते ही बनता था। राजा ने इस शुभ अवसर पर बदियो को मुक्त कर दिया (मुक्तानि ब धन व ानि)। यह प्रथा प्राचीन काल स चली आ रही थी और आज भी जीवित है।

तारापीड को स्वप्न म पत्नी के मुख मे चन्द्रमा के प्रवेश करने के दशन हुए थे, अत उसने पुत्र का नाम चन्द्रापीड रखा। नामकरण सस्कार के समय उसने ब्राह्मणो को बहुत सी स्वर्ण मुद्राएं भी दी। उसका अनुसरण करते हुए मन्त्री शुकनास ने भी अगले दिन अपने पुत्र का नाम वैशम्पायन रखा और बाद म चूडाकरण आदि सस्कार भी विधिवत हुए। बाण ने अपने उपनयन, समावतन आदि सस्कारो का भी उल्लेख किया है। राज्यश्री के विवाहोत्सव का विस्तार

से विवरण मिलता है। अ या य राजाओ म से राज्यश्री ने मौखरी राजकुमार ग्रहवर्मा को अप े वर के रूप म चुना था। दूत द्वारा वर की स्वीकृति आ जान पर महाराज ने क यादान का जल गिराया। विवाह की तयारिया होने लगी। आमि त्रत अतिथि व सम्ब धी आने लगे। राजसेवक नगर ग्रामो से उपयुक्त साधन-सामग्री जुटाने लगे। ज्योतिषियो ने विवाह का लग्न साधा, कुलवधुए मगलाचार के गीत गाने लगी और चतुर चित्रकार मागलिक चित्र बनाने लगे। अनेक प्रकार के वस्त्रो की रगाई और छपाई करके उ हे विवाह के समय के उपयुक्त बनाया गया। सूती और रेशमी पतले और मुलायम सभी प्रकार के वस्त्र सजोय गये। बारात विवाह के लग्न तक सब मार्गों को सजा दिया गया। तब ताम्बूल वाहक आया। उसका स्वागत कर उसके हाथ लग्न समय का सदश भेज दिया। बारात सहित ग्रहवर्मा आया। वह सुशोभित हथिनी पर सवार था। चारो ओर सुगन्धित द्र य बिखरे हुए थ मल्लिका पुष्पो की माला को उसने सिर पर धारण किया हुआ था। सम्भवत यह सेहरा हो। हष ने पैदल ही उसका स्वागत तथा आलिगन किया और सम्मान से बठाया। लग्न समय पर कलशो से सुशो भित वेदी के पास वर और वधू को लाया गया तथा अग्नि की साक्षी म समि धाओ स यज्ञ करत हुए विवाह सस्कार सम्प न हुआ। विवाह के बाद वर वधू जिस वास गह म गए उसक द्वार पर रति और प्रीति की मूर्तिया चित्रित थी ? (प्रविवेश च द्वारपक्षकलिखितरतिप्रीतिदवतम्वासगहम्) बाण इसका उल्लेख करना भी न भूले। पुन सुख पूवक दस दिन वहा रहकर ग्रहवर्मा दहेज और वधू सहित घर को लौटे।

प्रभाकरवधन की रुग्णता का समाचार सुन जब हष उनके पास पहुचा तो उनमे कुछ प्राण शक्ति बाकी थी उ होन हष को अपना अ तिम सदेश दिया और आखें मूद ली। महाविनाश के बहुत से अपशगुन तब प्रकट थ। पुरोहितो के साथ साथ सामतो और पुरवासियो ने अर्थी को उठाया और सरस्वती के किनारे जाकर महाराज का दाह-सस्कार कर दिया। बाण न दाह सस्कार का तो नही पर तु शोकाभिभूत समाज का व्यापक चित्रण किया है। पुन उनके फूल चुन कर उ हे कलश म रखकर अस्थि प्रवाह के लिए विविध सरोवरो नदियो तथा तीर्थों म भेज दिया गया।

समाज के विभि न क्षेत्रो, यवसायो और स्तरो स आने वाले लोगो के शरीर के गठन रग रूप हाव भाव एव वश भूषा का जैसा सूक्ष्म चित्रण बाण ने प्रस्तुत किया है, व सा अ यत्र सुलभ नही। इसी स उस युग क समाज की

नो भावनाओ, प्रथाओ एव मान्यताओ का परिचय मिलता है, अत कुछ रूपो
र दृष्टिपात करना अनुचित न होगा।

युवक सैनिक ने सिर के बालो को इकट्ठा कर उनका जूडा बाधा हुआ
ा। अगरू की काली बिन्दियो से युक्त लाला कचुक छोटी सी कुर्ती कसी हुई
ी। सिर पर उत्तरीय की पगडी थी (उत्तरीयकतशिरोवेष्टान) हाथ म कुछ
ढीला कडा था, कमर की पटटी म असि छोटी छुरी लगाई हुई थी तथा
निरन्तर व्यायाम के कारण उसकी देह छटी हुई थी। कातिमान् मुख के कारण
उनका सेना नायक सम्भ्रान्त-कुलीन प्रतीत होता था और वह घोडे पर सवार
था। एक अधड अवस्था का विशालकाय, गौरवण, दाढी-मूछ रहित, घुटे सिर
वाला, शिष्ट आकतिवाला भव्य रूप वाला, सफद कचुक पहन हुए और सिर
पर दुकूल-पटट को बाधे हुए अगरक्षक था। सम्भवत डा वासुदेवशरण अग्रवाल
को इसके विदेशी होन का भ्रम हो गया है। महाप्रतिहार परियात्र की चौडी
छाती पर हार झूल रहा था काना मे कुण्डल थे पतली कमर पर पटी पर
माणिक्य चमक रहा था। बाए हाथ मे मोतिया की मूठवाली तलवार और
दाहिन म सोने की वेत्रयष्टि रहती थी। कठोर कम होत हुए भी स्वभाव से
नम्र था। (मधुरया गिरा सविनयमभापत) गौडाधिपति से बदला लेने के लिए
हप के लिए वद्ध सेनापति न उसे प्रोत्साहित किया था वह लम्बा, गोरा श्वेत
केशी साहसी और वीर वद्ध था। उसकी चौडी छाती पर क्षत चिन्ह आज भी
उसका गौरव बढा रहे थे। सफेद दाढी झूल रही थी और भौह आखो पर झुक
आई थी। लेकिन उसके चेहरे से पता लगता था कि वह शत्रु-सेना का मार
भगाने वाला, अपनी भागती सेना को रोकने वाला, युद्ध प्रेमिया को अनायास
ही आकर्षित करने वाला और समस्त युद्ध धम को जानने वाला है। सम्भवत
उसी ने हप के साम्राज्य निर्माण म हप का साथ दिया था। मेखलक दूत का
चडलक मल्यिाले रग की पेटी से ऊचा कसा हुआ था और चिटठी को उसने
डारे से बीच म बाँध कर सुरक्षित रखा था। खराद पर चढी हुई कमर वाला
कुमार गुप्त और चौडी छाती वाला लम्बा तथा गोरा माधव गुप्त दोनो क्रमश
राज्यवधन और हप की सेवा में नियुक्त हुए। जगली शबर युवक का चित्र अद्भुत
है, चौडी छाती और लम्बी भुजाए उदर छटा हुआ खराद पर चढा हुआ
मध्यभाग सब शारीरिक शक्ति क लक्षण हैं। ऊचे माथ पर काले केशा का घेरा,
नाक चपटी और ठोडी मोटी पर छोटी तथा गाल की उभरी हुई हडिडया
और चौडे जबडे सब लक्षण विन्ध्य प्रदेश के आदिवासिया का चित्र उपस्थित

करते हैं। धनुष बाण और पशुओं के शिकार ने उसके शिकारी रूप को और भी स्पष्ट कर दिया था। स्थाणवीश्वर के बाजार में हुए ने यमपटटक को देखा। बाएं हाथ में लाठी पर उसने एक चित्रपट लगा रखा था, जिस पर भैंसे की सवारी करते हुए यमराज का चित्र अंकित था। दाहिने हाथ में उस ने एक सरकंडा ले रखा था, जिससे वह लोगों को नरक में मिलने वाली यातनाओं का स्मरण करवा रहा था। कौतूहल के कारण बालकों ने उसे सड़क पर घेर रखा था। (कुतूहलाकुल बहुलबालकपरिवृतम्) दाक्षिणात्यमहाशैव भरवाचार्य के परिव्राट का चित्र भी दर्शनीय है। सिर चौड़ा माथा ऊंचा, नाक टेढ़ी गालों में गड्ढे लटकता हुआ अधर भुजाएं घुटनों तक, तथा लम्बी ठोडी के कारण उसका मुंह और भी लम्बा लग रहा था। शरीर पर गेरुए कपड़े का उत्तरीय तथा कंधे पर लटकता हुआ लाल योग पट्ट था। एक हाथ में बांस था, जिसके सिरे पर झोली और कौपीन लटक रहे थे। झोली में कमण्डलु और बाहर खड़ाऊं लटक रही थी। और स्वप्न में रवाचार्य वाला कम्बल ओढ़ बाघ चर्म पर बैठा था। 55 वर्ष की आयु होने पर भी कुछ ही बाल सफेद थे, सिर पर जटाएं थीं, माथे पर त्रिपुण्ड्र ललाट पर भस्म, छाती पर दाढ़ी, नाक का अग्रभाग झुका हुआ तथा कान में स्फटिक के कुण्डल से वह सुशोभित हो रहा था। औषधि मंत्र तथा सूत्र के अक्षरों से युक्त शंख का टुकड़ा लोहे के कड़े में बांध कर एक हाथ में डाला हुआ था तो दूसरे में रुद्राक्ष की माला थी। क्षौमका कौपीन पहन कर पर्यकबंध की मुद्रा में तागे का योगपट्ट में बांध बैठा था। पुनः साधना भूमि में जब उसके दर्शन हुए तो वह भस्म का महामण्डल बना कर बैठा था और शव पर अग्नि जलाकर तिलों की उसमें आहुति दे रहा था। इससे स्पष्ट है कि उस समय अंध विश्वास पूर्ण बहुत सी साधनाएं समाज में प्रचलित हो चुकी थीं और मनोकामना पूर्ति के चक्कर में जन-सामान्य तो क्या राजे महाराजे भी ऐसे साधकों के शिकार होते थे।

बौद्ध भिक्षुओं में आचार्य दिवाकरमित्र के आश्रम में उनके दोनों ओर दो सिंह शावक बैठे थे। वह लाल चीवर मुलायम वस्त्र धारण किए हुए था। सभी सात्विक गुण यम नियम तप शौच, विश्वास, दाक्षिण्य, परानुकम्पा आदि उस में मूर्तिमान प्रतीत होते थे। उसका तापस-वेश प्रभावशाली था।

राज्य के विशेष अधिकारियों में महासामान्त स्कन्दगुप्त के आजानु लम्ब बाहु दण्ड लम्बा नासावंश तथा भव्य मुखमण्डल उसके महान् अधिकार के परिचायक थे। लम्बे घुंघराले बाल, आगे की ओर बढ़ा हुआ हाट तथा भारी

मरकम चाल उनके व्यक्तित्व के अन्य विशिष्ठ लक्षण थे। हर्ष का चित्र और भी भव्य बना है। महानीलमणि की पाद पीठ पर बाया पैर रख कर संगमरमर की चौकी पर आसन म हर्ष बठे थे। देवताओ के रूप सौंदय को बाण ने हर्ष म अनुभव किया।

इसीलिए उसे कान्ति, पराक्रम, कला, सौभाग्य, धम आदि का अजस्र स्रोत कहा है। फेन श्वेत अत्यन्त पतला अधरवास पहने था तथा उस पर मुलायम वस्त्र—सम्भवत रेशम की पट्टी बाधे हुए था। तारांकित उत्तरीय स शरीर के ऊपरले भाग को ढका हुआ था। छाती पर शेषहार था तथा भुजाओ पर जडाऊ केयूर। ललाट पर अरुण चूडामणि, केशान्त पर मालती पुष्प की मुण्डमाला तथा सिर पर शिखण्डाभरण-कलगी सुशोभित थी।

जहा अन्या य क्षेत्रो के पुरुष-वग के चित्रण से बहुविध समाज का परिचय मिलता है वहा स्त्रिया के कुछ चित्रो को उभार कर बाण न उनके सामाजिक परिवेश का भी परिचय दिया है। सन्देश वाहिका मालती धुले हुए रेशम का श्वेत, लम्बा झीना कचुक पहन हुए थी। सम्भवत झीना होन के कारण ही उसके नीचे बिन्दियो स युक्त कुसुम्भी रग का लाल चण्डातक भी पहने हुए थी। मुख मानो नीचे अशुक की जाली से ढका हुआ था। माथे पर दमकता हुआ पद्मराग था, कटि प्रदेश म बजती हुई करधनी तथा गले म बडे बडे मोतियो का हार। छाती पर रत्नो की माला अलग से लटक रही थी, हाथ की कलाई म पन्ना से जडित सोन का कडा था तथा कानो म बाली थी। माथे पर कस्तूरी का तिलक बिन्दु तथा ललाट पर माग मे से लटकता हुआ चटला तिलक आभूषण भी था। पीठ पर बालो का जूडा था और सामने केशो मे चूडामणि मकरिका आभूषण। उस युग म स्वर्णाभूषणो का कितना प्रचलन था, इस वणन से स्पष्ट है। नारी प्रसाधन को सदा से ही यहा महत्त्व दिया गया, गुप्त युग म इसका विशेष प्रचार था। दरबार की वारविलासिनियो का भी बाण न एक चित्र प्रस्तुत किया है। ललाट पर आरू का तिलक, चमचमाते हार, जिनका मध्यमणि इधर-उधर हिल रही थी, तथा बकुलमाला धारण किए हुए व नृत्य कर रही थी। चचल भ्रूलताए तिरछी भौहो क साथ चितवनें तथा इसी प्रकार की अन्य भाव भगिमाए उनके हाव भावों को प्रदर्शित कर रही थी। सती होन के लिए प्रस्तुत यशोवती का वेश भी बाण की लेखनी से अछूता नहीं रहा। शरीर पर कु कुम का अगराग लगा कर उसने मरण चिन्ह के रूप मे लाल पटटाशुक धारण किया हुआ था। हाथ म पति का चित्र फलक लेकर वह सती होन का निश्चय

कर चुकी थी।। इस से प्रचलित सती प्रथा का भी बोध होता है।

समाज के अन्यान्य स्तरों व अवस्थाओं में लोगों की वेष भूषा का बहुतायत से परिचय ऊपर लिखित उदाहरण से मिल जाता है। कुछ वस्त्रों का उस युग में विशेष प्रयोग होता था, उनका उल्लेख कर देना भी अनुपयुक्त न होगा। अंशुक एक विशेष रूप से पतला व मुलायम वस्त्र था—उसी के कई भेद थे कभी वह उत्तरीय के रूप में प्रयुक्त होता था तो कभी उष्णीष पगड़ी बांधने के लिए। नीलांशुक से मुंह ढकने की जाली का काम लिया जाता था। तो पट्टांशुक सती की शोभा बढ़ाता था। इसी प्रकार इस के और भी कई भेद थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय समाज में इसका बहुतायत से प्रयोग होता था। इससे यह अनुमान लगा लेना भी कदाचित अशुद्ध न होगा कि अंशुक-वस्त्र निर्माण का उद्योग पर्याप्त महत्वपूर्ण होगा। योगियों और संन्यासियों द्वारा बहुधा योगपट्ट वस्त्र का उत्तरीय के रूप में प्रयोग होता था—यह बहुत सम्भवतः गेरुए रंग का सादा-सा कपड़ा होता था। गमछनुमा अधोवस्त्र का प्राय समाज में प्रयोग होता था, यह अंशुक की भांति महीन न होकर कुछ मोटा होता होगा—ऐसा प्रतीत होता है। स्त्रियां कंचुक रूपी उत्तरीय के अतिरिक्त अधोवस्त्र के रूप में लहंगे का प्रयोग करती थीं। चंडातक ऊपर से नीचे तक लम्बे घाघे के रूप में आने वाला वस्त्र था, समाज में विशेष रूप से राजसेवकों में इसका बहुतायत से प्रचलन था। आश्रमों में कहीं कहीं वल्कलों के वस्त्र का उपयोग भी देखने को मिलता था और विंध्याटवी के जंगली कौपीन के अतिरिक्त शायद ही किसी वस्त्र का उपयोग करते रहे हों। राज्यश्री के विवाह के समय जिन वस्त्रों को संग्रहीत किया गया वे छः प्रकार के थे—क्षौम, बादर, लालातंतुज, अंशुक तथा नेत्र। क्षौम, सम्भवतः कोई कीमती, मुलायम वस्त्र होगा। दुकूल उत्तरीय, चादर, धोती, आदि के लिए प्रयोग में आने वाला कुछ बड़ा कपड़ा होता होगा। अंशुक और नेत्र सम्भवतः रेशम के ही दो भेद होंगे। यहां वस्त्रों की रंगाई और छपाई का भी विशेष उल्लेख है। पहनने के अतिरिक्त बिछाने के लिए भी उस समय कपड़े संगृहीत किये गये थे। राजाओं की वेश भूषा में चार प्रकार के उत्तरीय—कंचुक, चीनचोलक, वारवाण तथा कूर्पासिक तथा तीन प्रकार के अधोवस्त्रों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि जनसमाज में अन्यान्य प्रकार के वस्त्रों के पहरावे का प्रयोग प्रचलित था।

प्रसाधन का सर्वोत्तम साधन आभूषण युग विशेष की समृद्धि और मनोवृत्ति के परिचायक होते हैं। मकरिका सिर का आभूषण था, जो कभी मुकुट

के साथ प्रयोग मे आता था और कभी स्वतन्त्र रूप मे। विटलीलाटिका नामक आभूषण स मस्तक को सजाते थे, सम्भवत यह बिन्दी जसा कोई आभूषण रहा होगा। केशान्त मे मौलसिरी की मुण्डमाला पहनने का रिवाज था। सिर पर लोग मौलि भी धारण करते थे तथा पद्मराग मणि से जडित शिखण्डखण्डिका या कलगी भी इन मालाओ के बीच म लगाते थे। स्त्रिया सिर पर चटुला धारण करती थी जो उनकी माग मे से आगे को लटकता रहता था। कर्णाभरणो मे त्रिकटक सबसे अधिक प्रचलित था, स्त्री और पुरुष दोना ही इसका प्रयोग करते थे। पुत्र जन्म महोत्सव पर दासिया भी इसे पहन कर नाच कर रही थी। कही कही बालियो के पहनने का भी उल्लेख मिलता है। शख की बनी हुई अगूठिया का भी प्रयोग होता था। गले म पहने जाने वाले हार और मालाए कई प्रकार की होती थी। कोई बड-बड मोतिया वाली छोटी सी, तो कोई लम्बी प्रालम्ब माला, जो माणिक और पन्नो से जडी हुई होती थी। कलाई मे सोने का कडा पहनने का रिवाज भी बहुत प्रचलित था। युवक सनिक और सम्भ्रात युवतिया प्राय सभी इसका उपयोग करते थे। हा युवतियो के कडो म पन्ने आदि जडे होते थे। करधनी या सोने की मेखला का भी प्रयोग प्राय स्त्री और पुरुष दोना ही करते थे। स्त्रिया म नूपुर का प्रयोग भी देखने को मिलता है पर लगता है, यह बहुत प्रचलित न था। जनसमाज मे प्रचलित इन आभूषणा के अतिरिक्त राजाओ के विशेष आभूषणा का परिचय भी हर्ष के वणन मे उपलब्ध है। हर्ष की छाती पर शेष हार सुशोभित था और ललाट पर पद्मराग का अरुण चूडामणि। ललाट की केशान्त रेखा पर मालती पुष्प की मुण्डमाला तथा मुकुट पर लगी कलगी के रूप म शिखण्डाभरण सिर को सुशोभित कर रहे थे। कानो म कुण्डल के अतिरिक्त श्रवणावतस भी शोभित था। सामान्यत राजाओ के कर्णाभूषणो मे इनके अतिरिक्त पत्राकुर कणपूर तथा कर्णोत्पल का भी उल्लेख मिलता है। अलका को यथास्थान टिकाए रखने के लिए बालपाश का भी प्रयोग होता था, जो सम्भवत सोने की पत्ती के रूप म होता था। राजाओ की पगडी उष्णीषपट्ट भी बहुधा सोने का जडाऊ आभूषण ही होता था, जिस मे उन के वभव के अनुरूप मणिया आदि जडी होती थी। इनके अतिरिक्त राजछत्र का उन दिना विशेष प्रचार था। प्रधान सेनानी और महामात्य आदि कभी-कभी उसे धारण करते थे। इतने अधिक आभूषणो का प्रयोग तथा बाण के मित्रा म सुवर्णकार चामी आदि का होना सिद्ध करता है कि यह उद्योग भी नागरिको की आजीविका अर्जित करने का एक अच्छा साधन था।

भोजन के सम्बन्ध म उस समय भी समाज मे स्पृश्यास्पृश्य का विचार

विद्यमान था। अन्त्यजो के हाथ का भोजन द्विज नहीं ग्रहण करते थे। गेहू, चावल, दूध, घी, दही आदि उस युग म प्रचलित भोजन की सामग्री थी। रोटी का प्रयोग होता था। इन के अतिरिक्त यात्रा पर चबेना और सत्तू का प्रयोग प्रचलित था। मिश्री या मीठे का भी प्रयोग होता था। ब्राह्मणो म मद्य सेवन अच्छा नहीं समझा जाता था, पर जन साधारण म मद्य पान बहुतायत से होता था। मास भक्षण पर भी कोई प्रतिबन्ध न था, लेकिन बैल गदहा, घोडा सूअर आदि के मांस का प्रयोग केवल अन्त्यज ही करते थे। उत्सवो म मदिरा का सीमातीत प्रयोग होता था। हर्ष का जन्मोत्सव और राज्यश्री का विवाहोत्सव इस के प्रमाण हैं। सेना के भोज्य पदार्थों म चावल, चने सत्तू, के साथ साथ बेर, काजी का घडा और गन्ने के रस, राब की गगरी के भी दर्शन होते हैं। सेना ने जाते जाते उडद के खेतो को भी रौंदा था। गावो के घरो म अन्यान्य सब्जियो की बेलो का भी उल्लेख मिलता है। रसोई के बरतनो का उपयोग होने के भी प्रमाण मिलते हैं। तापक (तवा), तापिका (तवी), तलक (अंगीठी) तथा कडाही आदि का और कुछ ताबे का भी उपयोग होता था।

मनोविनोद जन सामान्य के मनोरजन का साधन होते हैं। जन मानस के स्तर और रुचि भेद के कारण उनमे भी पर्याप्त विविधता पाई जाती है। विद्वान सामाजिको के मनोरजन के लिए विद्यागोष्ठी का आयोजन होता था। सम्भवत काव्य गोष्ठी या गीत गोष्ठी भी इसी का अग हो, इस कोटि मे तो वे आ ही जाती है। कला मर्मज्ञो के मनोरजन के लिए नृत्य, वाद्य व वीणा गोष्ठियाँ समाज म प्रचलित थी। राज्य उत्सवो पर इनका विशेष रग जमता था। द्यूत गोष्ठियो का भी अभाव न था। श्वेत और काले आठ खाने वाले (अष्टपदपट्ट) शतरज का खेल भी मनोरजन का एक उत्कृष्ट साधन समझा जाता था। आक्षिक (पासा खेलन वाला) आखण्डल स्वत बाण का ही मित्र था। स्थाणीश्वर म लासको की सगीत शालाए वेश्याओ के कामायतन तथा वीणा वादन के स्थान भी सामाजिको के मनोरजन स्थल थे। रास मण्डलिया भी जन मानस के आह्लाद की सामग्री प्रस्तुत करती थी, विशेषत उत्सवो के समय पर। ये मण्डलिया अन्यान्य वाद्य यन्त्रो का उपयोग करती थी। राजगृहो म मनोविनोदार्थ पजर शुक सारिका गृहमयूर हसमिथुन चक्रवाल युगल आदि कई पक्षी होते थे। इन के अतिरिक्त मृगया शिकार उस युग का एक अन्य प्रधान मनोरजन था। युद्ध के लिए गये हुए राज्यवर्धन का अनुसरण करता हुआ हर्ष सम्भवत शिकार म ही लग गया था, जब उसे पिता के रुग्ण होने का समाचार मिला था। राजाओ के

शिकार खेलने के लिए सेवक जगली पशुओ को खदेड कर एक ओर लाते थे। शिकार के डर से भागते हुए पशुओ का कादम्बरी मे अच्छा चित्र मिलता है, इसी गडबडी में चन्द्रापीड का छत्र उठाने वाला भी कही पीछे रह जाता है और धूप से बचने के लिए उसे पत्रो के काम चलाऊ छत्र का आश्रय लेना पडता है। इनके अतिरिक्त राजाओ की काम क्रीडा भी उनके मनोरजन का साधन थी, जिनका उल्लेख तारापीड के विनोदों मे मिलता है। समृद्ध समाज को ही मनोरजन के लिए अवकाश मिलता है, और बाण के युग का समाज कम समृद्ध न था।

साहित्य और कलाओ का समुचित विकास सास्कृतिक प्रगति का द्योतक है। हर्ष स्वत नाटककार था। बाण सस्कृत का अद्वितीय गद्यकार हुआ है, उस की साहित्यिक गरिमा का उल्लेख अन्यत्र मिलेगा। सस्कृत के साथ साथ अपभ्रश और प्राकृत का साहित्य भी उस समय पर्याप्त विकसित हो रहा था। साहित्य के अतिरिक्त सगीत का भी विशेष विकास हुआ था। वीणा, मृदग तथा पटह के अतिरिक्त वारविलासिनिया द्वारा जन्मोत्सव पर आतिग्यक, वेणु, भल्लरी, तन्त्री पटह, अलाबुवीणा तथा काहल आदि का प्रयोग इस बात का प्रमाण है और यह सब सिखलाने के लिए स्थाणीश्वर मे कई सगीत शालाए भी थी। बाण के ध्रुवपद गान के गान से प्रतीत होता है कि परम्परागत सगीत पद्धतियो का भी समाज म प्रचलन था। चित्रकला का तो और भी अधिक विकास हुआ था। हर्ष जन्म से पूर्व यशोवती जिस भवन मे थी उस पर चित्रित चवरधारिणी स्त्रिया भी चम्वर भलने लगी थी (सुप्ताया चित्रभित्तिचामरग्राहिरयापि चाम राणि चालयाचक्रु)। विवाह के बाद ग्रहवर्मा और राज्यश्री जिस वास गह म गए थे उसके द्वार पर भी रीति और प्रीति के चित्र अकित थे। राज्यश्री के विवाह के समय न केवल चित्रकार मांगलिक चित्र बना रहे थे, अपितु महिलाएँ भी कलश और सुराइया पर चित्र बना रही थी। वदी को पूणतया सजाया गया था। उज्जयिनी म अनेक चित्रशालाए थी, जहा चित्र बनाने की कला सिखाई जाती थी। बाण के मित्रो मे चित्रकार भी थे। इस सबसे स्पष्ट है कि उस युग म चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ था। कपडो की रगाई और छपाई के काय का उल्लेख पहले ही हो चुका है। राज्यश्री के विवाह मण्डप के आस-पास बहुत सी मूर्तियाँ थी। बाण ने आरम्भ म ताण्डव करते हुए नटराज शिव की मूर्ति का भी उल्लेख किया है। वास्तु निर्माण कला का इस समय विशेष विकास हुआ था। विवाह के बाद उपयोगी वास गह म दपण लगे हुए थे। राजकुल मे चार कक्ष होते थे जो वीथियो से परस्पर जुडे हुए थे। तृतीय कक्ष म ही प्रभाकर-

वधन और यशोवती का आवास था, चतुथ म हष का आस्थानमंडप। धवलगह महाराज और महारानी के निवास प्रासाद थे। राजकुल क बाहर स्कन्धावार था वहीं से अ दर जाने वाला का प्रवश निर्यन्त्रित किया जाता था। आगन क चारो ओर बन हुए कमरे ही चतु शाल कहलाते थे। वहीं पर बैठने के लिए ऊची वेदिका भी बनी होती थी। महलो के खम्भा म मणिया भी जडी रहती थी। सामान्य जनता के घर सादा, पर तु आराम देह बने होते थे। समय समय पर उनपर पलस्तर और सफेदी होती थी, विशषत उत्सव के अवसरा पर। राज्यश्री के विवाह के समय सफदी करने के साथ साथ महल को सब प्रकार से सजाया भी गया था।

उस युग म प्रचलित प्रथाओ और रीति रिवाजा का भी हम परिचय मिलता है। *सतानोत्पत्ति विशेषत पुत्र जन्म के लिए समाज म अन्ध विश्वास पर* आधारित अन्याय साधनाओ का आश्रय लिया जाता था—कादम्बरी म इसका विशष उल्लेख है। देवताओ के आशीर्वाद से सन्तान सुलभ थी। बच्चो के दल से घिरी हुई बिल्ली के मुह वाली मातन्वी सूतिकागह म रखी जाती थी। जन्म समय पर ही ज्योतिषी नवजात शिशु के लक्षण देखते थे और राजा शुभ मुहूत मे ही शिशु के प्रथम दशन कर सकता था। विवाह के अवसर पर लग्न साधने के लिए अथवा युद्ध म प्रस्थान के लिए ज्योतिषिया का आश्रय लिया जाता था। प्रस्थान के समय बडा का आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक था, तभी काय म सफलता प्राप्त होती थी। तीथ-यात्रा आदि पर जाने समय लाल मालाओ का पट्टा कर लोग घर स निकलते थे। राज्यारूढ़ होने क समय राजा दिया को छोड़ता था। और हष पचवार्षिक दान भी दता था, जिसस पता चलता है कि समाज म यह प्रथा चली आ रही थी। राजा के आगे हरवाले प्राय चला करत थे। समाज म विवाह क अवसर पर मिठनिया (अश्लील गालिया) का रिवाज प्रचलित था। दहेज प्रथा भी देखने को मिलती है। युद्ध पर प्रस्थान करने क समय मागलिक सूत्रा व मत्रा का पाठ होता था नाम वजन थ सनाए सूय निक लने से बहुत पहल ही चल पडती थी। उसम पूव राजा विधिवत यज्ञ करता था। *प्रभाकर वधन की मृत्यु म पहल ही यमावती का सता होना प्रचलित सता प्रथा* का द्योतक है। मृत्यु क समय राजा का कत व्य प्रकट भय बयाने वाला गम्भ व्यक्ति क लौकिक-पारलौकिक जीवन म सतुलन का परिचायक है। प्रभाकर वधन की चिता सरस्वती क किनारे पर दाह-सस्कार सरिता-जल म अस्थि प्रवाह तथा मृत्यु क उपरान्त अशौच क दिना की स्वाभाविक कुछ अन्य प्रचलित प्रथाए था। पिता की मृत्यु क समय हष ने सभी प्रकार क अनुभव किए थ।

समाज म स्त्रिया की स्थिति अच्छी थी। कुलीन समाज की स्त्रिया न केवल विधिवत शिक्षा पाती थी, अपितु अन्य कलाओ म भी प्रवीण होती थी। सखिया सहित राज्यश्री ने नृत्य, गीत आदि कलाओ म विशेष योग्यता प्राप्त की थी। (अथ राज्यश्रीरपि नतगीतादिपु विदग्धासु सखीपु सकलासु च कलासु प्रति दिनमुपचीयमानपरिचया।) सच्चरित्रता कुलीन नारी का विशेष गुण समझा जाता था, पर वेश्यालय न हो, ऐसी बात भी नही। और राजकुल की दासिया के मन्त्रिया व सामन्तो से गुप्त-सम्बन्ध भी बन हुए थे। समाज मे स्त्रिया गृहिणिया ही थी। केवल राजकुल मे—विशेष रूप स अन्त पुर म परिचारिका का काय करती थी। महारानी का राजकुल म विशेष सम्मान था और दाम्पत्य प्रम की घनिष्ठता ने ही उसे यह कहने पर विवश किया कि महाराज का मरत देख मेरा जीना बड़े साहस का काय है। (मरणाच्च म जीवितमवाग्मिन समये साहसम्) इसी लिए वह उसी समय सती हो गई। स्त्रिया का विवाह प्राय छोटी ही अवस्था म हो जाता था और राजकुल की स्त्रिया का वर-चुनाव म स्वतन्त्रता प्राप्त होती थी, राज्यश्री ने ग्रहवर्मा को चुना था। विधवा स्त्रिया भिक्षुणी या सयासी भी हो जाती थीं। बाण की मित्र मण्डली म चार स्त्रिया का होना समाज मे स्वतन्त्रता का परिचायक है। वे अच्छ वस्त्र और आभूषणा का उपयोग करती थी जिसका उल्लेख पहले ही आ चुका है।

धार्मिक स्वतन्त्रता भारतीय सस्कृति की एक बड़ी विशेषता रही है। बाण के युग म जहा एक ओर बौद्ध धम के अन्यान्य सम्प्रदाया का विकास हो रहा था वहा गुप्तकाल म जिस हिन्दू धम का पुनरुत्थान हुआ था, उसके भी कई सम्प्रदाय समाज म अपना स्थान बनाए हुए थ। सम्भवत शिव उस युग का सर्वाधिक पूज्य देव था। हप भी अपने आरम्भिक जीवन म शिव भक्त ही थे। स्थाणीश्वर के तो घर घर म शिव की पूजा होती थी। (गृह गृह अपूज्यत भगवान् खडपरशु)। सरस्वती द्वारा सरिता तट पर शिव के पचब्रह्मरूप की पूजा का उल्लख है। यात्रा पर प्रस्थान करते समय बाण भी दूध मे शिव का स्नान कराके और विधिवत पूजा करके ही चला था। युद्ध के लिए हप ने जिस मन्दिर स प्रस्थान किया था सम्भवत यह भी शिव मन्दिर ही था। भास्कर वर्मा तो एकाकी शिव भक्त ही था। कादम्बरी म भी कई स्थलो पर शिव मन्दिर का उल्लेख मिलता है। गुग्गुल जलाकर, दूध स स्नान कराकर, बिल्वपत्र आदि चढाकर विधिवत् शिव-लिंग की पूजा प्रचलित थी। प्रभाकर वधन द्वारा सूय की पूजा भी इस बात का प्रमाण है कि उस समय इसका पर्याप्त प्रचलन था। इसके अतिरिक्त दुर्गा, चण्डिका,

मातृका आदि देवियों की मूर्तियां तथा पूजा का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। राज्यश्री के विवाह में इन्द्राणी का भी पूजन हुआ था। यद्यपि कर्म काण्ड केवल ब्राह्मणों के घरों तक ही सीमित न थे, अपितु स्थाणीश्वर में सर्वत्र ही हवन, यज्ञ महादान और वेदाध्ययन की धूम थी और श्रौत आचारों को भी जन सामान्य में मान्यता प्राप्त थी ? इस प्रकार ये निश्चय कर्म-काण्डों का समाज में विशेष स्थान था। दिवाकर मित्र के आश्रम में बौद्ध धर्म के प्रचार का बोध होता है। भिक्षु और भिक्षुणियों का उल्लेख समाज में उसके जीवंत रूप का प्रमाण है। जैनों के भी कुछ सम्प्रदाय उस समय प्रचलित थे। मन्त्र साधक, कापालिक और तान्त्रिकों ने भी समाज में अपना स्थान बनाया हुआ था। संतान-कामना के लिए लोग मन्त्र साधकों का आश्रय लेते थे, ऐसे ही साधक भैरव बाण के मित्र थे। प्रभाकर वर्धन की मृत्यु से रक्षा के लिए जब वैद्य और पूजा-पाठ कुछ न कर सका, तो मास भर तक भूतोपचार होता रहा, लेकिन यमराज अजेय हुआ। शव भैरवाचार्य ने महाश्मशान भूमि में अनेक तान्त्रिक क्रियायें की थी। शव पर बैठ कर विधिवत होम करना उनमें से प्रमुख थी। बाण के युग में एक ओर तीर्थों पवित्र सरिताओं गंगा आदि की मान्यता स्थापित हो चुकी थी और लोग विधिवत पूजा, तीर्थ-यात्रा स्नान व्रत, उपवास आदि में विश्वासी थे, तो दूसरी ओर समझ न आने वाली अन्यान्य सम्प्रदायों की तान्त्रिक क्रियायें भी समाज में प्रचलित थी। उस समय में प्रचलित विभिन्न उन्नीस सम्प्रदायों के भी बाण ने नाम गिनाए हैं। दिवाकर मित्र के आश्रम में ये लोग परस्पर विचार-विनिमय के लिए आते रहे होंगे। इनमें आर्हत श्वेतपट और केशलुंचन जैन साधु थे। लोकायतिक चार्वाक थे भागवत वर्णी, कणाद कापिल औपनिषद ऐश्वर कारणिक, धर्मशास्त्री पौराणिक, साप्ततन्तव और पाच रात्रिक वैदिक मतानुयायी थे। इससे स्पष्ट है कि उस युग में वैदिक मत का विशेष प्रचार होने लग गया था। प्रभाकर वर्धन की रुग्णता का संदेश पाकर जब हर्ष राजकुल में लौटा तो उसने वहाँ सभी सम्प्रदाय वालों की क्रियाओं, मन्त्र पाठों, देव पूजाओं तथा यज्ञों को होते देखा था। इससे राजा की धार्मिक उदारता का पता लगता है। सम्भवत हर्ष स्वतः भी अपने अन्तिम दिनों में बौद्ध हो गया था। इस प्रकार सामाजिक स्तर पर धार्मिक कट्टरता लोगों में घर नहीं कर गई थी, यद्यपि कहीं-कहीं विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों में परस्पर द्वेष की भावना के दर्शन अवश्य होते हैं, *यथा दिवाकर मित्र आदि पाराशरी भिक्षुओं और ब्राह्मणों में।*

बाण के युग में शासन प्रबन्ध कैसा था, इस पर दृष्टिपात करना

असगत न होगा। वंश-परम्परा से राजा का बडा पुत्र ही प्राय राज्य का अधिकारी होता था। यद्यपि यहा पिता मृत्यु स शोकातुर राज्यवधन न छोट भाई हप को राज्य सौंप दिया था और स्वत शत्रुओ से बदला लेन चला गया था। अपने राज्य के विस्तार और महत्ता के साथ साथ वे बडी उपाधिया ग्रहण करत थे। 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' उपाधि का हप ने प्रयोग किया है। राजा ही मन्त्रियो की नियुक्ति करता था, पर ऐसा प्रतीत होता है कि पहल राजा के समय से चले आने वाले मुख्य मन्त्रियो व सेनापतियो को वह उसी प्रकार बना रहने देता था। वे उसके अच्छे सलाहकार और शुभेच्छुक होते थे। राजा म सभी सात्विक वत्तिया और सदगुणो की अपेक्षा बनी रहती थी। इसी लिए बाण ने हप मे बहुत से देवताओ के गुणो का उल्लेख किया है। यद्यपि राजा का प्रधानमन्त्री एक ही रहता होगा, पर बाण ने प्राय मन्त्रियो के लिए महामात्य शब्द का ही प्रयोग किया है। वद्ध और योग्य राजा के सम्बन्धी को इस पद क लिए प्राथमिकता दी जाती थी। सम्भवत हप का प्रधान आमात्य उसका ममेरा भाई भण्डी था। महासधिविग्रहाधिकृत एक अन्य उच्च पद था। आजकल की भाषा म इसे विदेश मन्त्री भी कहा जा सकता है। यह समीपवर्ती राजाओ से सभी प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने का अध्यक्ष होता था। हप के समय इसी ने समीपवर्ती राजाओ को हप की अधीनता स्वीकार करन या युद्ध के लिए सन्नद्ध होन की घोषणा की थी। उन दिनो प्रधान सेनापति बहुत महत्वपूण पद था, हप का वद्ध और अनुभवी सेनानायक सिंहनाद सम्भवत प्रभाकर वधन के समय से ही चला आ रहा था। बाण ने विस्तार से उसकी पराक्रमी देह का परिचय दिया है। राज्यवधन की मत्यु पर गौडाधिपति से बदला लेने की प्रेरणा उसी न हप को दी थी। इसके अतिरिक्त बलाध्यक्ष का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवत यह सेना के एक अग के अध्यक्ष होते होंगे, जैसे पदाति सेना, अश्वसेना और गजसेना। सभी के अलग अलग अध्यक्ष होते। इनके अतिरिक्त कर वसल करने वाले राज्य कोष के अधिकारी तथा राज्य मे न्याय का प्रबन्ध करने वाले भी उस युग मे महत्वपूण मन्त्री रहे हैं। महत्वपूण मामलो की जाच सम्भवत राजा खुद ही करता था। समीपवर्ती राजाओ म तीन प्रकार के सम्बन्ध होते थे, एक व जो पूण अधीनता स्वीकार कर लेते थे, दूसरे जो कर देते थे और तीसरे जो छोटे होते हुए भी मित्र थे। सामत और महासामन्तो का सम्राट् के दरबार म विशेष स्थान था? सम्भवत उन्ही के माध्यम से राजा जन-सामान्य की अवस्था और रुचियो को जान पाता था तथा उनकी रक्षा का भार राजा पर था। प्रतिहार, महाप्रतिहार और दौवारिको का भी विशेष

अध्यक्ष सम्भवत स्कन्दगुप्त था, जिसे युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय हप मिला था। इयान च्वाग ने हर्ष की सेना म 60 हजार हाथिया का होना बताया है, जो एकदम अविश्वसनीय प्रतीत होता है, हा, इसमे इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी सेना मे बहुत ज्यादा हाथी थे। युद्ध के लिए प्रस्थान के समय विधिवत् यज्ञ, पूजा आदि करके ज्योतिषी से मुहूत पूछकर चला जाता था। समग्र साधन सामग्री के साथ साथ अन्त पुर का भी सेना के साथ साथ जाने का उल्लेख मिलता है। प्रस्थान के निमित्त रात के तीसरे पहर ही कूच का नगाडा बज जाता था। सशस्त्र सन्नद्ध सैनिका सामतो व राजाओ का बाण ने बडा ही विशद चित्रण प्रस्तुत किया है। सम्राट भी कभी कभी सेना का निरीक्षण करते थे। सना के चलने से कपका की फसल की भी हानि होती थी, सम्भवत युद्ध के बाद सम्राट कर आदि न लेता हो। इस प्रकार बाण के सेना वणन मे ही इस युग के बहुत से सास्कृतिक जीवन का परिचय मिलता है, क्योकि उसका वणन बडा व्यापक और सूक्ष्म बन पडा है।

भ्रमणशील बाण ने अपनी सूक्ष्मेक्षिणी दष्टि और कौतूहल जनक वत्ति के माध्यम से अपने युग के समाज का जैसा व्यापक परिचय दिया था, वह अदभुत था। फिर उसकी सशक्त अभिव्यक्ति और साहित्यिक गरिमा को समझ लेना भी उतना आसान नही, और उसके रत्नो को ढूढ निकालना तो किसी विशिष्ट विद्वान का ही काय है। उस युग के सास्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने के लिए सस्कृति के प्रत्येक उपादान का विशद और व्यापक विवरण अपेक्षित है। इन पष्ठो मे तो सम्भवत उसकी एक झलक मात्र ही मिल सके।

● ● ●

• • • मध्य-युगीन बोध का उन्नायक गुरु गोरखनाथ

भगवान बुद्ध और प्रतिभावान शंकर के बाद भारतीय धार्मिक क्षेत्र में महान् क्रांतिकारी आन्दोलन उपस्थित करने वाला युग पुरुष गोरख ही था। मध्य युगीन भारतीय जन समाज के आंतरिक जीवन का विघटन करने के लिए जहां शंकर के प्रहार को न सहने वाले बौद्धों के विकृत 'यानों' की गुह्य साधनाएं पर्याप्त थीं, वहां उसके बाह्य-जीवन को भयाकुल व अव्यवस्थित बनाए रखने के लिए उत्तर पश्चिम से होने वाले विदेशियों के आक्रमण भी सीमित न थे। इस प्रकार उपर्युक्त संरक्षण के अभाव में राजनैतिक, समुचित मान्यताओं के अभाव में सामाजिक तथा सम्यक् अनुष्ठानों, यमों व क्रिया कलापों के अभाव में धार्मिक सभी दृष्टियों से तत्कालीन उत्तर भारतीय जन समाज संत्रस्त, मर्यादा रहित तथा आचारहीन हो रहा था। ऐसे ही अवसर पर विकृत गुह्य साधनाओं का विरोध करके भी योग का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले, प्रचलित विभेद और विषमता मूलक सामाजिक मान्यताओं को ठुकरा कर समता-परक समाज की व्यवस्था करने वाले, तथा वामाचारों से तंग आकर धर्म पराङ् मुख होने वाले जन समाज को इन्द्रिय संयम, मन परिष्करण तथा काया शोधन के माध्यम से सम्यक् आचार का महत्त्व बताकर धर्मोन्मुख करने वाला क्रांतिकारी व्यक्ति गोरख भारतीय मनीषा के क्षितिज पर अवतरित हुआ।

पतंजलि की परम्परा में योग का वास्तविक रूप विधि महत्त्व व मूल्य समझा कर बौद्ध सिद्धों की गुह्य-साधनाओं और वामाचारों में फंसी हुई भयभ्रान्त जनता को मार्ग प्राप्ति के नये मार्ग का संकेत करने वाला प्रसिद्ध गुरु गोरख ही

था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि निस्चेष्ट, निष्क्रिय और वैयक्तिक दुराचार म फस कर निष्प्राण हुई भारतीय धम-साधना को जीवन्त शक्ति प्रदान कर एक बार फिर जन मन का व्यावहारिक व क्रियात्मक धम बनाने का श्रेय नाथ पथ के समुज्ज्वल मणि गुरु गोरख नाथ को ही दिया जा सकता है। इतना ही नहीं, परवर्ती मत मत के प्रवत्तक व सशक्त प्रचारक कबीर ने आचार और व्यवहार सम्बन्धी नाथ पथ की ही बहुत सी मान्यताओ को उसी रूप मे और कुछ को परिष्कृत करके भी अपनाया तथा उसमे गुरु रामानद से प्राप्त 'राम' के नाम को मिला कर ऐसा घोल तयार किया जिसका पान करने वाला प्रत्येक निष्य अमर होता गया और उसी सत मत की परम्परा अ याय पथो के माध्यम से आज तक अविच्छिन्न रूप मे चली आ रही है।

हमारा दुर्भाग्य है कि साहित्य और धम का इतिहास इस महान धम गुरू का कोई प्रामाणिक विवरण नहीं प्रस्तुत कर पाता। उपलब्ध साहित्य के आधार पर विभिन्न विद्वानो ने जो निष्कष निकाले हैं, उनका भेद भी उनके व्यक्तित्व की तरह महान है। विभिन्न मतो के अनुसार जहा उनका जन्म समय विक्रम की आठवी शताब्दी से चौदहवी शता दी तक फैला हुआ है, वहा उनके जन्म स्थान के लिए पश्चिमी भारत से लेकर उत्तरी या पूर्वी भारत के किस प्रदश को निश्चित किया जावे, कुछ नही कहा जा सकता। अनुश्रुतियों, परम्पराओं और उन से भी बढ कर साहित्यिक अन्त साक्ष्य के आधार पर जो बुद्धि सगत परिणाम मिलते हैं, उन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

डा० फरक्हर तथा डा० रामकुमार वर्मा ने जिन प्रमाणो और अनुमानो के आधार पर गोरख का समय 13वी शताब्दी माना है, उनमे विशेष बल नहीं। इधर डा० शहीदुल्ला ने आठवी शताब्दी मे उनका समय निर्धारित कर उन्हे आवश्यकता से अधिक पुरातन सिद्ध करने का प्रयत्न किया। प्राप्त विचारधारा, विश्वास, भाव और भाषा सभी दृष्टियो से गोरख के समय की यह दोनो सीमाए दूर जा पडती हैं। सिद्ध साहित्य के ममन महा पण्डित राहुल ने तिब्बती परम्पराओं क आधार पर उनका समय स 902 निर्धारित किया है। डा मोहन सिंह दीवाना ने भी नवी और दशवीं शताब्दी को ही इनका समय माना है। 'गोरख बानी' के सम्पादक डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने 11वी शताब्दी को अधिक प्रश्रय दिया है। इन सभी मतों के प्रतिपादक विद्वानो के प्रमाणों और युक्तियो का विश्लेषण-विवेचन करने के बाद नाथ-सम्प्रदाय के अधिकारी विद्वान्

आचाय हजारी प्रसा" जी द्विवगी न दसवीं शताब्नी म गुरु गोरख का आवि भाव स्वीकार किया है। विस्तृत विवचन उनकी पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय म दखने को मिल सकता है। सभी बातों पर विचार करने स उनका यह मत ही अधिक युक्ति युक्त और बुद्धिसगत प्रतीत होता है। अत अब तक की ज्ञान की प्राप्त सामग्री क आधार पर हम यही कह सकते हैं कि गुरु गोरख का प्रादुर्भाव दसवीं शताब्नी म हुआ था।

योगिसम्प्रदायाविष्कृति के अनुसार गोदावरी क तीर पर चन्द्रगिरि म इनका जन्म हुआ था। डा० रामकुमार वर्मा इन्हें हिमालय-वासी मानत हैं। सत साहित्य के ममज्ञ परशुराम चतुर्वेदी किसी पश्चिमी प्रदेश व पजाब को इन का जन्म स्थान मानते हैं। गोरखपुर को भी गोरखनाथ का बडा केन्द्र अवश्य समझा जाता है लेकिन उसका जन्म वहा हुआ हो—एसा कोई प्रमाण नहीं। बिना किसी आधार क बगाल वाला न उन्हें अपनी विभूति बताया है। नपाली परम्पराओं क अनुसार उनका मूल स्थान पजाब ही है। ब्रिग्स द्वारा उल्लिखित एक परम्परा क अनुसार व सत्ययुग म पेशावर (पजाब) म तथा कलियुग म गोरखमढ़ी (काठियावाड़) म उदभूत हुए थे। ब्रिग्स ने जेहलम (पजाब) को ज म स्थान माना है। आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, डा० मोहन सिंह ब्रिग्स, आदि विद्वानो के मतो पर विचार करने क बाद पजाब का ही गोरख का मूल स्थान स्वीकार करना अधिक युक्तिसगत जान पडता है।

ब्रिग्स का अनुमान था कि ये पहल वज्रयानी साधक थे और बाद म शव हो गये थे, लेकिन उनकी वाणी का अध्ययन कर साधना के मूल स्वर के आधार पर आचाय द्विवेदी ने ब्रिग्स के मत को निमूल ठहरा कर बताया है कि गोरख निश्चित रूप से न केवल ब्राह्मण जाति म उत्पन्न हुए थे अपितु उसी वातावरण म विकसित भी हुए थे। यही एक कारण है कि व तत्कालीन धार्मिक आडम्बरों व आवरणो स पूणतया परिचित थे, जिनका उल्लेख उनकी वाणी म अन्यान्य स्थलो पर मिलता है।

जनश्रुतियो और साहित्य क आधार पर अनुमान किया जाता है कि स्वस्थ देह के बलिष्ठ गोरख युवावस्था म ही वैराग्य से प्रभावित हुए थे और उन्होंने सयम-पूवक ब्रह्मचय पूण जीवन व्यतीत किया। उनक विस्तृत काय क्षत्र और व्यापक प्रभाव को देख कर अनायास ही कहा जा सकता है कि उन्होंने भ्रमणशील जीवन व्यतीत किया तथा बहुत स स्थानो पर शिष्यों क नियमित

आवास बनाते गये—या स्वय उनकी स्थापना होती रही। सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने क्रिया-कलापो से आदोलित व परिचालित करने वाले गोरख के धार्मिक साहित्य का परवर्ती साहित्य और धार्मिक अवस्था पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा—उपयुक्त और प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी ने अपने 'नाथ सम्प्रदाय' मे इनकी 28 सस्कृत रचनाओ का उल्लेख किया है। यद्यपि इनम से बहुत सी इनकी अपनी नहीं हैं, पर इन्ही के वचनो या सिद्धान्तो को परवर्ती शिष्यो ने सगहीत किया है। इतना होते हुए भी गोरख के मत का परिचय पाने की दृष्टि से 'सिद्ध सिद्धान्त' तथा 'गोरख सिद्धान्त सग्रह' का विशेष महत्त्व है। इनका विस्तृत विवरण वहा देखा जा सकता है। सभी का मूल स्वर योग की उचित व्याख्या अथवा मोक्ष प्राप्ति के साधन स्वरूप योग को अपनाने का सदेश है। गोरख के नाम पर प्रचलित इन सस्कृत कृतियो के अतिरिक्त हिंदी म जो 40 रचनाए गुरु गोरख की बताई जाती हैं, उनकी समुचित खोज के बाद डा० बडथ्वाल ने केवल 14 रचनाओ को प्रामाणिक माना है और उनका सग्रह 'गोरखबानी' म किया है। समय पर न मिल सकने के कारण 'ज्ञानचौंतीसा' इस सग्रह मे न आ सका। डा० मोहन सिंह ने सिद्धान्तो की दृष्टि से 'गोरख बोध' को बहुत प्रामाणिक माना है लेकिन सवादशैली मे लिखित यह कृति निश्चय ही उनके सिद्धातो की अच्छी व्याख्या प्रस्तुत करती है पर प्रामाणिक नही कही जा सकती। डा० बडथ्वाल और आचार्य द्विवेदी ने भाषा, शैली और विचारधारा की दृष्टि से 'सबदी' को गोरख की कृतियो म सबसे अधिक प्रामाणिक माना है, जो उपयुक्त ही है। उनके नाम पर प्रचलित पदो म से यद्यपि कुछ अन्य परवर्ती मतो के हैं, तो भी कुछ पद अवश्य ही उनके अपने और बहुत पुराने प्रतीत होते है।

सर्वाधिक प्रामाणिक 'सबदी' म 275 पद सगहीत हैं। प्रारम्भ मे 'अगम अगोचर' का वर्णन है। वेद शास्त्र व कुराण स अवर्ण्य अज्ञेय, उसे तो कोई विरला योगी ही जानता है—

> 'वेदे न शास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बच्या जाई।
> ते पद जाना विरला जोगी और दुनी सब धधै लाई॥'

ध्यान से देखा जाय तो गोरख ने हठयोग की साधना पद्धति और वैयक्तिक जीवन मे सयम तथा इन्द्रिय निग्रह पूर्वक आचरण करते हुए मन को वश म करने पर विशेष बल दिया है। आडम्बर और आवरण स बचने के लिए

कही कही वाह्यावेश, पूजा, तीर्थ स्नान व यात्रा का विरोध भी किया है। सस्कृत के अनुस्वार और णकार का 'सबदी' को सरल व सादी भाषा मे बहुतायत से प्रयोग मिलता है।

इनके 62 प्राप्त पदो मे से 34 राग रामग्री तथा 26 राग असावरी के अतर्गत आते हैं। शेष दो पद आरती के हैं। प्रत्येक पद प्राय 8 या 10 पक्तियो का है। अपने गुरू मत्स्येन्द्रनाथ को सबोधित करके बहुत से पद कहे हैं, जिनमे स्त्री और भोग के त्याग का सदेश मिलता है। ऐसे पद प्राय चेतावनी परक हैं। माया के व्यापक प्रभाव को दर्शाते हुए वही उसे न केवल ब्रह्मा, विष्णु महेश का उत्पादक कहा है अपितु जाया भी बताया है—

ब्रह्मा विष्न नै आदि महेस्वर ये तीन्य मैं जाया।
इन तिहुवा नी मैं घर घरणी हैकर मोरी माया जी॥
(पृष्ठ 93)

ज्ञान और गुरु को इससे बचने का साधन बताया है। इसके लिए इन्द्रिय सयम और अभ्यास द्वारा न केवल हठयोग का ही आश्रय लेकर कुण्डलिनी को जागत कर ब्रह्मरध्र मे पहुच कर अमीरस का पान किया जा सकता है, अपितु 'सोह' या अजपा जाप भी साध्य प्राप्ति मे सहायक सिद्ध हो सकता है—

ऐसा जाप जपौ मन लाई सोहं सोहं अजपा गाई।' (पृ 125)

प्राय सभी लेखको ने गुरु गोरख मे भक्ति का अभाव पाया है लेकिन हठयोग की साधना की प्रधानता होते हुए भी उनके बहुत से पदो मे अजपा जाप का सदेश मिलता है। यह ठीक है कि इस अजपा जाप के लिए भी उसने एकाग्र-मन तथा दृढ़ आसन को आधार माना है। इस प्रकार हठयोग की साधना के बाद उसमे अजपा-जाप का भी मजुल समन्वय दृष्टिगोचर होता है। सम्पूर्ण सत मत का गुरुमन्त्र 'सोहं' गुरु गोरख की ही देन है। राग असावरी मे जहां एक ओर ब्रह्म के 'नेति' स्वरूप का वर्णन मिलता है—

ऊंकार निराकार सूछिम न अस्थूल,
पेड न पत्र फल नही फूल॥ 1॥ (पृष्ठ 129)

वहां दूसरी ओर पाषाण की प्रतिमा स्थापित कर पत्र-पुष्प से उसकी पूजा करने वाले से पूछा है कि 'सरजीव तोडिला निरजीव पूजीला' तो फिर जो पाप हो गया है, उसे दूर करने के लिए—

तीरथि तीरथि सनान करीला
लेकिन बाहर 'धोये कैसे भीतरि भेदीला॥ 3॥ (पृष्ठ 131)

यही भाव कबीर मे और अधिक तीखे व्यग्य का रूप धारण कर अभिव्यक्त हुए हैं और बहुत से योग परक पद भी देखने को मिलते हैं। आरती में उसका यशोगान है, जिस अनत की कृपा होने पर यम भी भाग खडा होता है।

'सिष्या दरसन' (शिक्षा दर्शन) मे पदो की कोई सख्या नही दी गई। प्रथम दस बारह पक्तियो में दो दो शब्दो का वाक्य खण्ड अपने आप पूर्ण भाव का संकेत रूप से द्योतक है, पुन 30 के लगभग पक्तिया हैं, जिन पर कोई पद सख्या नहीं। 'अदिगत उतपतते' और उससे आकाश वायु, जल, तेज और मही आदि पाचो तत्वो की क्रमश उत्पत्ति का वर्णन है। आगे 'आत्मा ध्याण ब्रह्म ग्यान' का उल्लेख है और अन्तत इन्ही दो शब्दो के वाक्य खडो मे "पेचरी मुद्रा" "भूचरी सिधि" और 'सुषमना नदी' आदि योग की क्रियाओ मे मुद्राओं, अवस्थाओ, और साधनाओ का वर्णन मिलता है। कुछ पक्तिया मे निरजन निराकार का वर्णन है तथा नाद, अनाहद का स्वरूप बताया है।

'सतोष तिलक तहा पद नृवाण' आदि कह कर मानव के आतरिक गुणों का महत्त्व स्थापित किया है तथा गुरू मछीन्द्रनाथ की 'सिष्या पहरिबा कान' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि कानो मे पहने जाने वाले कुण्डल, गुरू की शिक्षा को ग्रहण करने के प्रतीक मात्र हैं। अत मे बताया है कि स्थूल माया के रहस्य को जान कर उसका भेद करने पर ही नवद्वारो पर अधिकार होगा और जीव मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी हो सकेगा।

प्राण सकली के 16 पदो मे ज्ञान और योग का वर्णन मिलता है—

प्रथम प्रणऊ गुरू के पासा। जिन मोहि आतम ब्रह्म लपाया।
सत गुरु सबद कह्या तै बूझया। तहूँ लोक दीपक मनि सूझया॥

आत्मा में ही ब्रह्म के दर्शन कराने वाले गुरू और ज्ञान सूर्य स्वरूप सबद' के महत्त्व से इस वाणी का आरम्भ होता है। अन्तर में ही ब्रह्म को ढूँढने मे प्रयत्नशील उसे बताया है कि तिहु लोक निवासा त्यागने पर ही, 'निरजन जोति प्रकासा' प्राप्त होगा, जहा दिन, रात, मास, वर्ष आदि कुछ भी न होगा। पुन, देह की असख्य नाडियो द्वारा और कोठो का वर्णन उपलब्ध है। सतगुरू ने यदि एक 'सबद प्रकट कर दिया, तो—

'गुहज्य (गुह्यअजप) नाम अमीरस मीठा जो पीजै सो पावै।'

नाम' के अजपा-जाप द्वारा अमृत रस की प्राप्ति का उल्लेख किया है। सत मत और विशेषत सिक्ख धर्म का नाम मार्ग इसी का विकसित रूप है।

पुन योग का वर्णन है, जिसमें बताया है कि शरीर कोट के द्वार पर कुटिल माया खड़ी है, जो मूल तत्व ब्रह्म तक पहुंचने नहीं देती। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि की सिद्धि के साधन से ही भ्रम का त्याग हो सकेगा और ब्रह्म का साक्षात्कार होगा, वस्तुत गुरु के वचनों से ही पांचों तत्वों म निहित विष अमृत म परिणित होता है।

'नरवै बोध' के 11 पदों म मानव मात्र को बोध कराया है कि पच तत्वों से ही सृष्टि और जीव की उत्पत्ति हुई। अत —

पहल आरम्भ छाडौं काम क्रोध अहकार।
मन माया विषै विकार।

सर्वप्रथम इन दुर्गुणों का त्याग करना पड़ेगा, तभी मानव आध्यात्मिक जीवन म आगे बढ़ सकता है। नाथ पथ म आचार का महत्व था और सद्गुणों का विकास तथा दुर्गुणों का त्याग उसका साधन था। न केवल सिर पर जटा भार धारण को बेकार बताया है अपितु तीरथ, व्रत, पूजा आदि को भी व्यर्थ ही बताया है। अत म लौकिक समृद्धि की आशा का त्याग कर साधारण भोजन और जीवन का महत्व प्रतिपादित करते हुए उसने कहा कि 'रिधि परिहरौ सिधि लेहु बिचारि।'

'आतम-बोध' के 22 पदों म पहले आसन का महत्व बताया है। अन्यान्य पवनों का वर्णन करने के बाद आसन लगाकर वायु निरोध (वशीकरण) करने वाले 'जोगी की काया काल न छीपै।'

उन्मुनी वायु म अनाहद नाद का श्रवण होता है। मत्र जाप न करने वालों को पशु कहा है और ऐसे पशु क्यों कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं—

'पसुवा होइ जपै नहीं जाप, सो पसुवा मोषि क्यू जात॥

गुरु के वचनों का महत्व और झूठ के दुष्परिणामों का उल्लेख करने के बाद 'आतमा बोध सपूरण कहिया' कह कर कृति के नाम को सार्थक किया है।

गुरु गोरख की रचनाओं म से 12 पक्तियों की 'अभै मात्राजोग सब से छोटी है। इसम अकल पथ के योग मार्ग का साकेतिक विकास दिया है। सम्भवत इसके आधार पर ही बाद म इसी नाम के किसी पथ का विकास हुआ हो। इसम भी दो दो शब्दों के समस्त पदों म सम्पूर्ण साधना पद्धति का स्वाभाविक विकास क्रम देखने को मिलता है और साधक 'अमी फल' की प्राप्ति करता है।

'बद गोरष एकवार से 'पद्रह तिथि' के सत्रह पदा का आरम्भ होता है। गुरुनानक ने भी प्रभु को इसी नाम से स्मरण किया है। प्रत्येक तिथि के अनुकूल अनुनामिक छदा म यौगिक त्रियाओ का महत्त्व दिखाया है। कबीर आदि परवर्ती कई सतो ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है।

सप्तवार के आठ पदो मे गुरु के सबद पर विचार करने की प्रेरणा देते हुए बताया है कि प्रत्यक 'वार' को क्या करना चाहिए। इस मे शरीर-शुद्धि पर विशेष बल दिया है।

गोरषोवाच—'स्वामी तुम्हे गुरु गुसाईं अम्हे तु सिष। (सबद एक पूछिबा) दया करि कहिबा मनहि न करिबा रोस आरभि चेला कैसे रहे। सतगुर होइ सो बूझया कहै। 10।

इस प्रकार 'मछीद्रगोरष बोध का आरम्भ होता है जिसे गोरख की विचार धारा को समझने के लिए अति उपादेय माना जा सकता है। सवाद शैली की यह परम्परा सता और उनके शिष्यो म भी प्रचलित हुई। इन 127 पदो म अबोध अज्ञानी शिष्य की भाति गोरख सभी विषयो पर प्रश्न करते चले हैं। गोरख पूछते हैं—

स्वामी कौन देषिबा कौन विचारिबा।'

मछिद्र उत्तर देते हैं—अवधू। आपा देषिबा अनत विचारिया।' अपन आपको देखना और अनत पर विचार—यही तो सम्पूण साधना का लक्ष्य है। इसी प्रकार मन के रूप को शू य बताया है तो दशम द्वार को साध्य कहा है। अनादि को आदि का गुरु कहा है, इस प्रकार निगुरे का व्याघात किया है। रात, दिन सभी शू य म समा जाते हैं। वास्तविक शब्द अनाहद नाद ही है। मन के विकार छोडकर अजपा जाप का सदेश दिया है। मन ही देव है, उसी को अपने अनुकूल ढाल लेने म जीवन की सफलता निहित है। इस प्रकार इस म साधना के आ या य रूपा और स्तरो का विवेचन मिलता है, तथा जिज्ञासु शिष्य की बहुत सी समस्याओ का भी समाधान प्राप्त है।

'रोमावली की 50 पक्तियां मे देह निर्माण का उल्लेख विशेष रूप से किया है। घट मे बोलने वाले चार पीरो का नामोल्लेख इस प्रकार किया है—

'मन मछिद्रनाथ, पवन ईश्वरनाथ चेतना चौरगीनाथ, ग्यान श्री गोरषनाथ।

इससे पता लगता है कि ईश्वरनाथ भी कोई प्रसिद्ध नाथ रहे होंगे

जिस का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। 'सोलह-सोल' पद पर इसमें सबसे अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। अध्यात्म पक्ष में इन्द्रियाँ मुद्राएँ आदि की अवस्थाओं और क्रियाओं का परिचय दिया है। अन्त में जहाँ चन्द्र और सूर्य की बारह कलाओं में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दुर्गुणों को गिनाया है वहाँ शान्ति, क्षमा आदि गुण चन्द्र की सोलह कलाओं को पूर्ण किया है। इस प्रकार जो—

ग्यारहि कला सूरज की सोध ले सोलह कला चंद्रमा की पाव ॥

ग्यानतिलक के 15 पदों में 'गुरु' का विशेष महत्त्व दर्शाया है। 'भाई माही माया प्रगटया, सत ते दूर न जाई ॥' यद्यपि गुरु ने यही संकेत दिया है जैसे पत्थर में अग्नि और दूध में घी छिपा है उसी प्रकार वास्तविक तत्व तो अन्तर में ही है। सांसारिक माया तृष्णा आदि स्थिर नहीं, लेकिन इन का ज्ञान गुरु के द्वारा ही होता है। इसमें कथा आदि विशिष्ट योगपरक वाणी का मर्म और व्यावहारिक ज्ञान का अपूर्व सङ्गम मिलता है।

'पंचमात्रा' में पाँचों इन्द्रियों के नियन्त्रण पर विशेष बल दिया है, क्योंकि जिस पंचतत्व से देह का निर्माण हुआ है, उसी में तो महापुरुष का निवास है। अतः इन्द्रिय विकार के साधन माया मोह आदि को छोड़कर अध्यात्म-पथ का आश्रय लेना चाहिए।

मन मूंड तो मस्तक मूंडी। नहीतर पडी नरक की कूंडी ॥'

भेष और आवरण का विरोध कर आन्तरिक तत्व के महत्व को समझाया है और वास्तविक योगी वही है जो पंच मात्रा के भेद को समझता है वह तो स्वतः ही पूज्य बन जाता है।

कुल मिलाकर गोरख की वाणी का महत्व इस बात में है कि उसने संस्कृत के साथ साथ जन भाषा का भी आश्रय लिया और विचारों के प्रचार के लिए उसे ही अधिक महत्त्व भी दिया। वामाचार की गुह्य साधनाओं से अलग हठयोग की साधना-पद्धति का स्पष्ट उल्लेख व प्रचार कर उसे विकृत होने के लिए गुह्य न बना रहने दिया।

काया शोधन के बिना इन्द्रिय निग्रह और मन परिष्करण सम्भव नहीं। अस्वस्थ देह सशक्त वासनाओं का क्यों कर मुकाबला कर सकेगी? अतः हठयोग का महत्त्व स्थापित किया लेकिन उसे साधन रूप में ही स्वीकार किया है। बाह्य वेश भूषा का विरोध कर आंतरिक दृष्टि से मन के परिष्करण व इन्द्रियों के नियमन का संदेश दिया है। साधन स्वरूप गुरु और उसके दिए

'सबद' का महत्त्व स्थापित किया है। इतना होने पर 'सबद' के अजपा जाप से भी जीवन साध्य की प्राप्ति का संदेश दिया है। यद्यपि यह स्वर बहुत प्रखर नहीं तो भी कहीं कहीं इसका उल्लेख मिलता ही है। गम्भीर अर्थपूर्ण वाणी भी उनकी मिलती है जिसमें यौगिक क्रिया कलापों का चित्रण है और उसे साधना का ज्ञान होने पर ही समझा जा सकता है। साहित्यिक शैली की दृष्टि से परम्पराओं का परवर्ती संत साहित्य में पालन हुआ है, कहीं कहीं परिष्कार-परक विकास भी। विचार धारा की दृष्टि से गोरख के साहित्य और शिष्यों द्वारा उसके प्रचार ने ही आचार प्रधान व्यावहारिक, धार्मिक वातावरण का निर्माण किया था, जिससे न केवल पूर्ववर्ती गुह्य विकृत साधनाओं का बहिष्कार हुआ अपितु परवर्ती स्वस्थ साहित्य के विकसित होने के लिए उर्वर भूमि भी मिली। गोरख और उसके सहयोगियों के धार्मिक साहित्य ने सम्पूर्ण उत्तर भारत को एक छोर से दूसरे छोर तक इतनी शक्ति पूर्वक प्रभावित किया कि तात्कालीन प्रचलित कोई भी सम्प्रदाय या मत उनके प्रभाव से न बच सका और मत वभिन्य होते हुए भी सभी ने गोरख के महत्त्व को स्वीकार किया। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में 'परवर्ती हिन्दी साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है उसका श्रेय इस साहित्य को है, इससे स्पष्ट है कि गुरू गोरख ने न केवल धार्मिक वातावरण के प्रसार में अपितु धार्मिक साहित्य के निर्माण में भी अद्भुत सहयोग व प्रेरणा प्रदान की है, जिसका प्रभाव आज तक सम्पूर्ण उत्तर भारत पर देखा जा सकता है।

● ● ●

• • • 'निर्गुणिया भक्ति की दाक्षिणात्य पृष्ठभूमि'

उत्तरी भारत म प्रवर्तित सम्प्रदाय जब प्रत्यान्य यानो के माध्यम से विकसित हो रह थे तब वे बहुतायत से ज्ञान एव भक्ति का आश्रय छोड चुके थे। जिस आचार का उन्होंने आश्रय लिया था वह भी वामाचार म परिणत हो चुका था। ऐसे अवसर पर प्रतिभावान शकर ने ज्ञान के आधार पर एक बार फिर वदिक मत की स्थापना का प्रयत्न किया जिसस उस युग के दार्शनिक जगत मे उनका महत्वपूर्ण स्थान बना। इस प्रकार वामाचार का विरोध करने के लिए शकर का ज्ञान एव ज्ञानाधारित तक प्रबल अस्त्र सिद्ध हुए, लकिन जन सामान्य को धर्मोन्मुख करने के लिए ज्ञान को भी भक्ति का आश्रय लना पडा। इस दिशा मे दक्षिण का प्रयास स्तुत्य रहा। जिस भक्ति की प्रथम किरण, गीता के उपदश के साथ निकली थी, समय समय पर वह प्रभुत्व पाती रही। दक्षिण भारत म 12 आडवार भक्त इस भक्ति के स्वर म स्वर मिलाकर ही भगवान के निकट पहुचने मे प्रयत्नशील थे। वे हृदय की कोमल वत्तिया भगवान को अर्पित कर नाम जप, पूजा कीतन आदि से आराध्य को रिझाने के प्रयत्न म थ। इनका उत्कप काल छठी शताब्दी से आरम्भ होता है।[1] वस्तुत यह पाचरात्र सहिताओं के अभ्युत्थान का काल था। श्रडर ने कुछ सहिताओं का अस्तित्व ईसा से पूव भी माना है।[2] फकुहर सहिताओं का निर्माण काल छठी से आठवी शताब्दी माना है। शैव आगमो की भाति इनम

---

1 दि कल्चरल हैरिटज आफ इडिया प 72

2 श्रडर एन इन्ट्रोडक्शन टू दी पाचरात्र एड अहिबुध्य सहिता भूमिका।

भी चार विषयों का प्रतिपादन है।

1 ज्ञान अर्थात ब्रह्म, जीव तथा जगत के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण।

2, योग अर्थात मोक्ष की साधनभूत प्रक्रियाओं का वर्णन।

3 क्रिया अर्थात देवालय निर्माण, मूर्ति स्थापन, पूजा आदि।

4 चर्या अर्थात नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों एवं यन्त्रों की पूजा पद्धति, पर्व विशेष के उत्सव आदि। इनमें ज्ञान का तो नाम-मात्र का वर्णन है, जब कि तत्वज्ञान, मन्त्रशास्त्र, यन्त्रशास्त्र, मायायोग, योग मन्दिर निर्माण, संस्कार उत्सव आदि विषयों का विस्तार से वर्णन है।[1]

शंकर के समय में इनका प्रचार न हो, ऐसी बात नहीं। उस समय भी ये आडवार भक्त अपनी भक्ति में तल्लीन अवश्य थे। हां इनका स्वर प्रचारवादी न था। इस प्रकार विक्रम की सातवीं से दसवीं शताब्दी तक तामिल नाडु में ऐसे भक्त गायकों का प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति के उल्लास में एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक भजन गाते फिरते थे।[2] इनमें शैव एवं वैष्णव दोनों ही थे। 'आडवार' का तामिल में अर्थ है 'अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला।' ये आडवार संत अधिकतर निम्न जातियों के ही थे। दक्षिण में जाति-पांति तथा वर्ण प्रवर्ण के विरुद्ध सर्वप्रथम क्रांतिकारी स्वर इनका ही था—हां कबीर आदि की तरह इनमें अक्खड़ता न होकर नम्रता, उदारता, शील तथा शिष्टता की ही अधिकता थी। तिरुमंग डाकू थे, अन्दाल महिला भी नीच जाति की ही थी। नम्म व शठकोप इनमें प्रसिद्धतम भक्त हुए हैं, जिन्होंने प्रचलित वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव में से माधुर्य को ही महत्त्व प्रदान किया। 'प्रबन्धम्' जो इनका धार्मिक ग्रंथ है उसे 'तामिल वेद' कहा जाता है। इसे बारहवीं शताब्दी में वैष्णव आचार्यों ने सम्पादित किया था। इनकी भक्ति का चरम इससे प्रतीत होता है जब भक्त कहता है—भगवन। न मैं तुम्हारे बिना हूं और न ही तुम मेरे बिना। परन्तु मुझे शरण दिए रखना।[3]

कबीर, रविदास, गुरु नानक, गुरु गोबिन्द सिंह आदि में भी इसी प्रकार के भाव दृष्टिगोचर होते हैं, यह हम आगे चल कर देखेंगे। जो हो इनका

---

1 श्रडर एन इ टोडक्शन टू दी पाचरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता प 29

2 म सा भा ह प्र प 41

3 ज एस कपूर हिम्स आफ दि आडवास प 12

महत्त्व इस बात मे है कि शकर के 'अद्वैत' की प्रतिक्रिया म रग मुनि (824 924) ई० अथवा नाथ मुनि (जो नम्म की निष्य परम्परा म ही थे।) प्रथम आचाय होने म साथ साथ भक्त भी थे। शकर सम्भवत भक्ति का महत्व न समझा सक थे, अथवा 'अद्वैत प्रतिपादन म भक्ति की 'द्वैत' भावना से दूर रह कर ही उन्होने वेद विरोधी स्वरा का खडन कर बौद्धिक स्तर पर अद्वैत वेदांत प्रतिपादित किया था।[1] आडवारों के अभाव म हो सकता था, सभी वष्णव सम्प्रदाय शकर की ही भाति शुष्क बौद्धिकता के आधार पर केवल अपने अपने दशन की प्रतिष्ठा करत। हमारे आलोच्य काल के सतो में धाम भक्ति की जा लहर रामानन्द आदि के माध्यम से पहुची वह मूल रूप से इन्ही से प्रवाहित हुई थी।

भक्ति का स्रोत ढूढने हुए फकुहर ने लिखा है—

'In the suctarvara Siva is introduced under his old name Rudra, and for the first time in Hindu Literature, devotional feeling, Bhakti, is spoken of as due to him [2]

बलदेव उपाध्याय ने भी इस मत का समथन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नवी शताब्दी तक दक्षिण मे विष्णु की पूजा होती थी जो दसवी शताब्दी तक जाते जाते कष्ण के रूप म होने लगी। रहस्यवादी और कवि आडवारा के बाद चिन्तक एव मननशील आचार्यों का युग आया। इनका उददेश्य भक्ति और कम के साथ ज्ञान का सम्मिश्रण था।[3]

ऊपर हम देख आए हैं कि रामानुज के आदि गुरू नाथ मुनि (रग मुनि) नम्मलवार नामक शूद्र की शिष्य परम्परा म थ। इसीलिए उन्होने निम्न वग के प्रति उदार होकर गुरु-ऋण चुकाया ऐसा कह तो अनुपयुक्त नही। रगमुनि के बाद यमुनाचाय वष्णवो के प्रसिद्ध आचाय हुए। इ होने 'आत्मसिद्ध ईश्वरसिद्ध तथा मायाखण्डन आदि का प्रचार किया। यही प्रसिद्ध रामानुज के गुरू थे। शाकराद्वैत से असतुष्ट रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। वे शकर के मायावाद से पूणतया असतुष्ट थे। इसी समय मजेदार बात यह हुई कि श्रीरगम् का चोल नरेश, जो कटटर शैव था उसने शिवात्परतरो

1 धम 40 2 आ रि फकुहर, प 59
3 रि हि आर एस शर्मा, प 41

नास्ति' का घोष निनादित किया और रामानुज वहा से भाग कर मैसूर पहुचे और वैष्णव धर्म का प्रचार करते रहे।

शकर के 'मायावाद' का खण्डन[1] कर रामानुज ने ईश्वर, जीव व जगत की स्थिति मानी है। ईश्वर विशेष्य है, तथा जीव और जगत उसके विशेषण। दूसरे उपनिषदो ने ब्रह्म को निर्गुण न कहकर सगुण व सविशेष ही कहा है। इस प्रकार जीव अनेक हैं, ब्रह्म से उनका अशाशी भाव है[2] तथा ब्रह्म सर्वज्ञ एव जीव अज्ञ है। इतना ही नही, शकर मुक्ति मे जीव ब्रह्म का ऐक्य विधान करते हैं। रामानुज जीव का अस्तित्व समाप्त नहीं होने देते, अत मुक्ति मे जीव तल्लीन हो जाता है, जिसका साधन ज्ञान न होकर भक्ति है।

शकर की घोर बौद्धिकता-समाज की प्रतिभा को प्रभावित कर सकती थी बौद्धो का उच्छेद कर सकती थी, ज्ञान का प्रचार कर सकती थी, वेदात की प्रतिष्ठा कर सकती थी, पर कभी भी जन प्रिय नही हो सकती थी—क्योकि जनता विद्वत्ता का आदर करती है, लेकिन अपना नही पाती, क्योकि वह बौद्धिक नही होती।[3] ईश्वर और मोक्ष की रामानुजीय कल्पनाए अधिक मनोवैज्ञानिक, मनोरम एव स्वाभाविक सिद्ध हुई और समय के अनुकूल अत्यधिक जन प्रिय भी। इससे स्पष्ट है कि रामानुज का यह भक्ति आन्दोलन शकर की अपेक्षा मानव की मुक्ति का कही अधिक सफल साधन बना।[4]

भक्ति का यह आदोलन क्रातिकारी न होते हुए मानवतावादी उदार धर्म का परिचायक था। लेकिन दूसरी प्रबल शक्ति ने ही कबीर जैसे दृढ हठ योगियों को अपनी धारा म बहा लिया, तुलसी जैसे भक्तो को भक्ति के विषय मे भेद भाव भुलाने पर विवश कर दिया। मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय इस भक्ति आन्दोलन को ही है, जिसके क्रान्तिकारी रूप म ऐतिहासिक प्रवर्तन का कार्य रामानुज ने ही किया है। आचार्यों ने तर्क एव युक्ति द्वारा ज्ञान मार्ग

---

1 हि प वि उ प 138 2 वही प 148

3 धर्म पृ 41

4 The faith preached by him (Ramanuja) appealed more to the common people and won them to its worship because he emphasised devotion to a personal God and thus opened the way of Salvation to the Lower classes no less than to the Higher

(D A Pai Religious Sects in India among Hindus P 8)

पर भक्ति माग की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर—भक्ति की उपादेयता सिद्ध की। आड्वारो का माग या प्रपत्ति—शुद्ध वष्णव भक्ति, लकिन आचार्यों ने भक्ति के साथ धम का मजुल समन्वय भी कर दिया। आड्वार हृदय प्रधान थ, तो आचाय मस्तिष्क प्रधान।[1]

शूद्र नम्म की शिष्य परम्परा म रामानुज ने जब मन्दिर पर खडे होकर श्रो नमो नारायणाय की घोषणा कर निम्न जातियो को भक्ति का अधिकारी बना अपनी उदारता का परिचय दिया—तो गुरु ने नरक म जाने का शाप दिया जिसका उत्तर दते हुए आचाय बोले— भगवन्! यदि इस महामत्र का उच्चारण कर हजारो आदमी नरक की यत्रणा से बच सकते हैं तो मुझे नरक भोगने मे ही अधिक आनन्द होगा।" यह उनकी महानता का परिचायक सिद्ध हुआ।

समयानुसार वर्णाश्रम धम के बधनो को ढीला कर दिया गया—यह भी एक कारण था कि जनसमाज भक्ति की ओर झुक सका। रामानुज (स० 1084-1194) के विशिष्टाद्वत के बाद निम्बाक (स० 1171 1219) ने 'द्वैताद्वत के आधार पर राधा कृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की।[3] तत्पश्चात मध्वाचाय (स० 1254-1333) ने द्वत सम्प्रदाय के अनुकूल भक्ति को उच्चतम स्थान पर बिठाया। इन आचार्यों म से मध्व ही थे जिन्होने अति तीव्र स्वर मे शकर के अद्वैत एव ज्ञान का खण्डन किया और पूणतया द्वत का समथन कर भक्ति की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। भक्ति की पूण प्रतिष्ठा हो जाने पर वल्लभाचाय (स० 1536 1587)[4] आए तथा उन्होने ही भक्ति म पुष्टि माग की स्थापना कर माधुय भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित की जो युग-युगान्तर तक भारत की जनता को अपने मधुर रस से आप्लावित करती रही।

प्रत्येक सम्प्रदाय की साधना पद्धति एव लक्ष्य (मुक्ति के स्वरूप) में भी थोडा बहुत भेद था। श्री सम्प्रदाय वाले वर्णाश्रम विहित कर्मों का पालन करते हुए चित्तशुद्धि के द्वारा प्राप्त भक्ति से ही मुक्ति मे विश्वासी थे। इनकी मुक्ति मे तल्लीनता' का विशेष स्थान है। भक्ति के बिना मुक्ति सम्भव नही। 'श्री सम्प्रदाय वाले जहा लक्ष्मी या नारायण को इष्टदेव मानते थ वहा सनक

1 सतो क ध वि ई म प 42 — 2 हि प वि उ प 118
3 उ प प च प 84 — 4 उ प प च प 85

सम्प्रदाय' वाले राधा व कृष्ण को। 'वल्लभ सम्प्रदाय' वाले 'श्री नाथ' की विधिवत पूजा मे विश्वासी थे, तो 'चैतन्य सम्प्रदाय वाले पूजा की दृष्टि से देखते हुए नाम-स्मरण को ही अधिक महत्त्व देते थे। इस प्रकार वैष्णव धर्म के साम्प्रदायिक रूप का विकास दक्षिण में हुआ।[1]

यही वैष्णव शैव मता के रूप मे जीवित ब्राह्मणवाद, जो स्मृतियो, पुराणो तथा बुद्ध काल म बने सूत्रो पर आधारित था, संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि म था। इसका दार्शनिक प्रवाह अनेक रूप लेता रहा—जो भक्तिवाद के रूप म प्रथम शंकर के यहा व्यावहारिक रूप से तथा रामानुज, निम्बार्क मध्व तथा वल्लभ के यहा ध्येय रूप से मान्य हुआ। बौद्ध धर्म को अपने गर्भ म विलीन करने वाला यह मत ही अवतारवाद, रूपोपासना तथा नाम-जप आदि के रूप म आगे बढा। इस प्रकार वैष्णव आचार्यों ने तर्क पद्धति से भक्ति का दार्शनिक आधार पुष्ट किया, किन्तु साधना पद्धति मे तर्क के स्थान पर हृदय पद्धति को आश्रय दिया। शंकर ने बौद्धो को उत्तर देना था और वैष्णवो न जन-सामान्य म भक्ति का प्रचार करना था।[2] तो भी वल्लभ को छोड कर कोई भी वैष्णव आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण से श्रेष्ठ नहीं ठहराता। सब यही स्वीकार करते हैं कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है परन्तु कुछ कारणो से वह *अवतार लेता है और अवतारी ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म म कोई भेद नही।*

इस प्रकार 'मायावाद' की प्रतिक्रिया मे भक्ति के स्थापक इन आचार्यों म कुछ भेद होते हुए भी बहुत सी समताए प्राप्त हैं। सभी ने 'मायावाद' का खंडन कर ईश्वर, जीव व जगत मे भेद स्वीकार किया है। व्यवहार म सभी ईश्वर के सगुण रूप के समर्थक थे। मध्व ने तो पूर्णतया द्वैत की स्थापना की। सभी ने भक्ति को उच्च स्थान देकर ज्ञान को केवल उसके साधन के रूप म स्वीकार किया है। प्रपत्ति जो पहले केवल शूद्रो के लिए स्वीकृत थी, सभी के लिए स्वीकृत हुई। कर्मकाड, यज्ञ आदि की उपेक्षा कर चित्त की शुद्धि शरणागति, जप कीर्तन आदि को महत्त्व दिया। सामान्य तत्त्वो को इस रूप म छोडा कि आने वाले साहित्य के माध्यम से वे एक युग तक भारतीय जनता म प्राणो का संचार करते रहे। क्योंकि हिन्दू संस्कृति का आधार दर्शन है दर्शन पर ही धर्म और धर्म पर साहित्य का विशाल मंदिर बना हुआ है[3] जो जनता

---

1 हि प वि उ प 120 2 राम 134

3 हिन्दू संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना। जनार्दन मिश्र, प 1

को निम्न वर्गिया के प्रतिविम्ब के साथ साथ उनका परिष्कार भी करता है।

रामानुज की शिष्य परम्परा म 13वी पीढ़ी म हान वाल रामानन्द का इन आचार्यों से भी अधिक महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने 'श्री सम्प्रदाय' म कठोर नियमों को स्वीकार नहीं किया। संस्कृत को छोड़ जन साधारण म भाव क लिए हिन्दी का आश्रय लिया। इनका दूसरा ऐतिहासिक महत्वपूर्ण काय पूजा-पद्धतियों को प्रधानता देकर, भजन भाव को निगुण ब्रह्म है और वही निगुण ब्रह्म, कबीर, सन, धन्ना, पीपा तथा रैदास को इन की देन है। इस प्रकार प्रचार की दृष्टि से द्राविड़ म जन्म लेने वाली भक्ति को उत्तर म ले आने का श्रेय इन्हीं को है।[3] उत्तर म पन्थ रहे गुरु और कबीर योग को भक्ति स्थापित करने का कारण रामानन्द का उदार एवं विशाल हृदय ही था। परिणामस्वरूप हम कहते हैं, 'सतमत' के निर्माण म इनका कितना महत्वपूर्ण स्थान है। सम्भवत इसीलिए गुरु ग्रन्थ साहिब के सतों म इन्हें भी स्थान मिला है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्ययुग म उत्तर म जिस निगुणिया भक्ति का आश्रय लेकर अन्यान्य सत और उनके पथ विकसित हुए उनके मूल म दक्षिणात्य भक्तों एवं आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

● ● ●

---

2 राम 134 3 हि प वि उ प 142

• • • 'मध्य-युग मे प्रचलित मुक्तक काव्य-रूप'

अरस्तू के अनुसार 'रूप किसी वस्तु के अस्तित्व का वह अभ्यतर कारण है जिसके द्वारा उस वस्तु के उपादान को आकार प्राप्त होता है।[1] एक ही वस्तु को अन्य अन्य रूपो म ढाला जा सकता है, लेकिन उसके लिय कौन सा रूप सर्वोत्तम होगा, इसका बोध एव उपयोग रूपाकार की प्रतिभा, ज्ञान, शक्ति एव सामर्थ्य का परिचायक होता है। जो रूप इन तत्वो की कसौटी पर जितना खरा उतरेगा, वह वस्तु को उतना ही अधिक स्थायित्व एव महत्व प्रदान करने मे सहायक सिद्ध होगा।

रूप की दृष्टि से काव्य के मूलत दो भेद किए गए हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। जहाँ प्रबन्ध मे पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है, वहा प्रत्येक मुक्तक अपने आप म पूर्ण एव स्वतन्त्र होता है।[2] विषयवस्तु शैली, राग, छन्द, सख्या आदि अन्यान्य आधारों पर मुक्तक के बहुत से भेद किए गए हैं। सतों का काव्य प्रधानत वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। उनके आध्यात्मिक विषय ब्रह्म जीव जगत आदि से सम्बन्धित हैं। जीव को साध्य तक पहुचने के लिये सहायक शक्तिया उपयोगी सिद्ध होती हैं तथा अवरोधक शक्तिया निरन्तर बाधा उपस्थित करती रहती हैं। इनका लेखा जोखा ही उनका दूसरा प्रधान विषय है। इन विषयो मे इतिवृत्तात्मकता एव कथात्मकता को कोई स्थान नहीं अपितु एक भाव या विचार का स्पष्टीकरण है। ऐसे विषयो की

---

1 हि सा को, पृ 848।

2 ध्व लो 3 7।

अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक ही सर्वोपयुक्त माध्यम हो सकता था। सम्भवत इसीलिये सम्पूर्ण सतकाव्य ने विशेषकर मुक्तक का ही आश्रय लिया है।

काव्य रूप की दृष्टि से पद (शब्द), साखी तथा रमैनी का सत काव्य म विशेष उपयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त बावनी चौंतीसा थिती, वार, वसत, चाचर, हिंडोला, कहरा, बेलि, बिरहुली तथा विप्रमतीसी के भी सतो के काव्य म कही-कही दर्शन होते हैं।[1] यहा सक्षेपत इन्ही काव्य रूपो पर विचार किया जाएगा।

साखी सस्कृत के साक्षी (गवाही) शब्द से साखी का विकास हुआ है। अपने अन्त करण म अनुभूत सत्य की इनम अभिव्यक्ति मिलती है, इसीलिये यह लौकिक व्यवहार तथा अलौकिक पथ का प्रदर्शन करती है। जनियो तथा बौद्ध सिद्धो, दोनो ने अपनी आध्यात्मिक तथा उपदेशात्मक रचनाओ के लिए दूहा (दोहा) छद का प्रयोग किया था[2] जिसका अनुसरण पीछे शेख मनरी बूअली कलदर, अमीर खुसरो, शेख गगोही, जायसी आदि कई सूफी कवियो ने भी उत्तर भारत म किया। सतो ने उनकी कई अन्य बातो के साथ साथ इस छद को भी अपनाया। इसीलिये बहुत अधिक साखियो म प्राय दोहा छद का आश्रय लिया गया है। साखी को ज्ञान की आख कहते हुए, कबीर ने उसकी इस प्रकार व्याख्या की है—

> 'साखी आखी ग्यान की समुझि देखु मन माहिं।
> बिन साखी ससार का झगरा छूटति नाहिं।[3]

'योगेश्वरी साखी तथा नामदेव साखी को कुछ विद्वानो ने कबीर से पहले का माना है पर तु इसका कोई तर्कसगत प्रमाण नही मिलता। इनम दर्शन, धर्म, प्रेम और भक्ति, गुरुमत योग, समिरन, पतिव्रत नतिक व्यव हार आदि विषयो की दृष्टि से कबीर की 809 साखियो को 59 'अगो म विभाजित किया गया है। लेकिन बीजक तथा 'आदिग्रथ म एसा नही हुआ है अपितु 'आदिग्रथ मे इन्ह सलोकु की सज्ञा दी गई है। रज्जब जी द्वारा सम्पादित 'दादूदयाल की वाणी का अगो पर आधारित विभाजन सबसे पुराना प्रामाणिक वर्गीकरण माना जाता है।[4] दादूदयाल की 2658 साखियां केवल 37 अगो म विभाजित हैं वषनर जी की 40 अगो म और स्वय रज्जब जी

1 हि सा आ का, पृ० 112 2 अ सा प 405
3 क वी (ह) प 124, स० 353 4 क सा प पृ 188

को 192 अगो मे ।[1] बहुत सी साखियों में शातरस का परिपाक हुआ है। शृगार तथा वीर रस का आनद भी कुछ साखियो मे मिलता है। एक ओर शुष्क उपदेशात्मक एव नीतिपरक साखियो के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर सरस अनुभूति की मधुर अभिव्यक्ति के 'गागर मे सागर' शैली के उत्कृष्ट उदाहरण इन साखियो म उपलब्ध हैं। दैनिक जीवन के व्यावहारिक रूपको से उन्होंने अपने सिद्धान्तों का ताना बाना बुना है, ताकि सामान्य जन सुविधापूर्वक उनसे आत्मीयता स्थापित कर सके। अपने को 'राम का कुत्ता' बताते हुए सत कबीर ने परतत्र जीव को, उसकी सीमाओ का, कितने सरल एव स्पष्ट शब्दों म परिचय दिया है।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
गलै राम की जेवडी जित खचे तित जाउ ॥[2]

उनकी प्रतीकयोजना एव रूपक, उपमा आदि अलकारो के प्रयोग ने साखियो को प्रभावोत्पादक बनाया है। साखियों म दोहा छद का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। परन्तु साखी का नामकरण छन्दविशेषता के कारण नहीं बल्कि विषय के कारण हुआ था।[3] सतों को काव्यशास्त्र का विधिवत ज्ञान न होने के कारण साखियो मे सभी शास्त्रीय नियमो का बहुतायत स पालन नही हुआ, फिर भी छन्दविशेष की आत्मा उनकी वाणी म साकार हुई है। दोहे के अतिरिक्त सोरठा चौपाई, श्याम-उल्लास, हरिपद, गीता सार तथा छप्पय जस छदो के भी उदाहरण साखियो मे मिलते हैं।[4] पुराने सूफिया ने अपनी साखियो जैसे छन्दों को प्राय 'दूहा' नाम दिया है और उनके द्वारा इसका उपयोग सिंधी भाषा तक में भी किया गया मिलता है।

पद— आदिग्रंथ' तथा 'कबीर ग्रथावली मे कबीर के पद भी उपलब्ध हैं जिन्हें 'बीजक म 'सब्द' सज्ञा दी गई है। बौद्ध सिद्धो के चर्यापदा म सतो के पदो का मूल स्रोत दृष्टिगोचर होता है।[5] सम्भवत लोकगीतो से ही उन्होंने इसका विकास किया है लेकिन सर्वप्रथम इन्हे साहित्यिक रूप देने का श्रेय बौद्ध सिद्धों को ही है तथा पीछे वैष्णव भक्तो के यहाँ इन्हे विष्णुपद की सज्ञा दी

---

1 स का सत काव्य, सतो का परिचय तथा भूमिका प 38
2 क ग्र (का स) साखी स 166
3 म का स प 241 4 क सा प पृ 188
5 का रु मू स्रो वि प 160

गई भी देखी गई। जनो ने भी, अपनी धर्मभावना तथा उपदेशात्मक वृत्ति के प्रसार के लिए, दोहा और गीतो का आश्रय लिया था। सतो ने, ऐसे ही भावों की अभिव्यक्ति के लिए, दोहा तथा पदों को माध्यम बनाया।¹ 'सबद' गुरु के उस शब्द (नाद) का प्रतीक है, जो जीव को अध्यात्मपथ का पथिक बना देता है। कही कही इसे 'बानी' भी कहा गया है। स्वानुभूतिजन्य भावप्रवण सगीतात्मकता पद के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। पद में सहानुभूति है तो साखी में अनुभूत्यापारित ज्ञान गरिमा, एक में सगीत है तो दूसरी में विचार, एक में सरसता है तो दूसरी में युक्तता, एक भक्ता के लिये है तो दूसरी ज्ञानियो के लिये, एक स्वात सुखाय है तो दूसरी सर्वात सुखाय, एक का आधार राग है तो दूसरी का विचार, एक में भावो में उच्छलन है तो दूसरे में विचारों की स्पष्टता एक में आकार की भिन्नता है तो दूसरी में एकरूपता, एक की शैली भावात्मक है तो दूसरे की विचारात्मक एक में सदेश है तो दूसरी में उपदेश पुन मिलाकर कहा जा सकता है कि एक हृदय को प्रभावित करता है तो दूसरा मस्तिष्क को। कबीर ने भी कहा है —

पद गाए मन हरिषिया सापी कह्या आनद।
सोतत नाव न जाणिया गल मे पड़िया फध॥²

'कबीर ग्रथावली' में उपलब्ध 403 पदो को 15 रागो में विभाजित किया गया है तथा परिशिष्ट में भी 222 पद उपलब्ध हैं। 'आदिग्रथ' में कबीर के 225 पद 18 रागो में रैदास के 40 पद 16 रागो में धन्ना के 3 पद 2 रागो में त्रिलोचन के 4 पद 3 रागो में, वेणी के 3 पद 3 रागो में उपलब्ध हैं।³ इनके अतिरिक्त परवर्ती सतो मे दादूदयाल के 27 रागो में 445 पद प्राप्त होते हैं⁴ जिनका मौलिकता की दृष्टि से भी विशेष महत्व है। पद प्राय अध्यात्म भक्ति तथा आचरण से सम्बधित रहा करते हैं। सतो के पदो को चार भागो में बाटा जा सकता है—1 उपदेश तथा नीतिपरक 2 वैराग्य सम्बन्धी 3 सिद्धान्त निरूपक 4 विरह एव मिलन के पद। प्रथम कोटि के पदो में भावात्मकता एव रागात्मकता का अभाव दिखाई देता है। दूसरी कोटि के पद, ससार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए भी, बड़े प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं

---

1 अ सा प 393
2 क ग्र (का स प 38)
3 स धा वि प 117 118
4 स का पृ 284

यथा—

रहना नही देस विराना है।
यह ससार कागद की पुडिया बूँद पडे घुल जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥[1]

हठयोग की शब्दावली ने सिद्धान्ता के प्रतिपादन म भावा को दबा डाला है। सन्तो की विरहिणी आत्मा की विह्वलता विरह के पदों के माध्यम से प्रस्फुटित हुई है। सन्ता का सच्चा गायक इन पदा म ही मुखर हुआ है। इसी लिए उनके विरहगान मे भी आनद एव आह्लाद की अनुभूति का परिचय मिलता है। सन्ता के पदो म मुख्यतया शांत एव शृगार रस का परिपाक हुआ है। वियोग शृगार के बहुत से सजीव चित्र भी देखने को मिलते हैं। गेय होने क कारण इनम 'टेक का विशेष महत्व है। 'टेक' को 'आदिग्रथ मे 'रहाउ सज्ञा प्रदान की गई है। 'टेक' दो, तीन तथा चार चरणा की भी होती है। यद्यपि पदो का मूल आधार राग है, तब भी उसम अन्यान्य छदो का आश्रय लिया गया है।[2]

रमैनी—रमैनी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे सत विचारदास का मत है कि यह 'रामणी' शब्द का रूपातर है।[3] जीवात्मा की ससरणादिक क्रीडाओं का सविस्तार वणन इनका विषय है। परशुराम चतुर्वेदी[4] तथा आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी[5] का मत है कि 'रामायण' से रमैनी बना है। आचाय द्विवेदी तो रमैनी शब्द का प्रयोग ही बहुत परवर्ती मानते हैं लेकिन चतुर्वेदी जी ने उसके पूववर्ती प्रयोग का परिचय दिया है। डा० त्रिगुणायत का अनुमान है कि यह लोकगीता का एक काव्य प्रकार है। आध्यात्मिक गीता के लिये 'रमैनी शब्द राम के आधार पर गढ लिया गया होगा।[6] किसी भी मत से पूण मनस्तोष तो नही होता, फिर भी अतिम अनुमान अधिक जचता है।

कबीर के 'बीजक मे 84 तथा ग्रथावली म 6 रमनिया है आदि-ग्रथ म इस शीर्षक के अभाव मे भी रागा के अतगत कुछ रमनिया मिलती हैं। विषय की दृष्टि से रमैनियों को 3 वर्गो मे रखा जा सकता है—1 जिन मे ब्रह्म एव जगत् का वणन मिलता है 2 जिनम भक्ति की महत्ता प्रतिपादित

1 क ब पृ 182 64
2 विस्तृत विवरण के लिए—देखें—क स प प 192
3 क सा बी पृ 189 90
4 क सा प प० 193
5 हि सा पृ 125
6 हि नि का धा दा प 679

करते हुए, भक्त को प्रेरणा दी गई है, 3 जहाँ बाह्याचार का विरोध कर प्रान्तरिक भाव को महत्त्वपूर्ण ठहराया है। पहले प्रकार की रमनियों में अद्भुत एवं शांत रस मिलता है तथा दूसरे वर्ग में भी बहुधा शांत रस का ही परिपाक हुआ है। शैली की दृष्टि से कहीं जीव को सम्बोधित करते हुए सम्बोधन शैली का आश्रय लिया है तो कहीं वर्णन प्रधान स्थान ले ली है। जिसका अनन्य उत्कृष्ट उदाहरण हम उत्तरी भारत के संत कवियों द्वारा रचे गए प्रमाणवाला अथवा प्रमगाथा नामक प्रबन्ध काव्यों में भी मिल सकते हैं। रमैनियों में समास शैली का प्राय अभाव ही है। भक्त एवं भक्तिपरक कुछ रमनियों में ही विशेष पड़ती हैं उनमें राग तत्त्व भी प्रमुख है, सम्भवत इसीलिए 'ग्रन्थप्रियं' में वे रागों के अन्तर्गत रखी गई हैं। रमैनियों की रचना दोहा तथा चोपाइयों में की गई है। पहले चोपाई और रमनी के अंत में दोहा होता है जिसमें प्राय ऊपर के विषय का निष्कर्ष मिलता है। इनमें दोहे व चोपाइयों की संख्या निश्चित नहीं।[1] द्वपदी, 'सप्तपदी, अष्टपदी, बारहपदी आदि शब्दों से इनके दोहों की संख्या का पता चलता है। परवर्ती संतों में 'अक्षर-खण्ड की रमैनी' 'पंज की रमनी, बलख की रमैनी आदि अनेक रमनियाँ मिलती हैं जिनमें से कुछ को कबीर कृत ही मान लिया जाता है।[2]

बावनी चौंतीसा ककहरा—हिंदी वर्णमाला के 16 स्वर तथा 36 व्यंजन—52 वर्णों से आरम्भ कर लिखे पदों को बावनी या 'बावन अखरी' नाम दिया गया। कबीर-ग्रंथावली में इस शीर्षक के अन्तर्गत कुल 6 पद मिलते हैं जिनका आरम्भ दोहे से और अंत चोपाइयों से होता है लेकिन आदिग्रंथ में अंकित बावन अखरी में 45 पद उपलब्ध होते हैं।[3] डा० रामकुमार वर्मा ने प्रत्येक आरम्भिक अक्षर का रूप गुरुमुखी वर्णमाला के व्यंजन के अनुसार माना है।[4] परन्तु इसका क्रम देवनागरी के अनुसार है।

बावन अछर लोक त्रै सभु कछु इनही माहि।

ए अखर खिरी जाहिगे ओर अखर इन महि नाहि ॥[5]

नश्वर ब्रह्माड इन अक्षरों में आबद्ध हैं पर अनश्वर का कथन कैसा? यही इनका विषय है। कहीं-कहीं शुष्क उपदेशात्मकता प्रधान हो गई। अगर

---

1 विस्तृत जानकारी के लिये देखें—क सा प प 194

2 हि सा प 125

3 श्री गु ग्र सा ए प, पृ 92

4 स क भूमिका प 25

5 श्री गु ग्रथ सा ए प, प 380

चद नाहटा के अनुसार बावनी की परम्परा जैन कवियो से सतो को प्राप्त हुई है।[1] गुरु अर्जुनदेव, सत रज्जब, हरिदास, सुदरदास तथा भीषजन ने भी बावन अखरी की रचना की। गुरु नानक देव ने इन 54 पदो को 'दक्षिणी ओंकार' नाम दिया। इसके अतिरिक्त गुरु नानकदेव तथा गुरु अमर दास ने कबीर की बावन अखरी' से प्रेरणा पाकर गुरुमुखी वर्णमाला के अक्षरो के आधार पर 'पटटी' की भी रचना की है।[2]

'कबीर बीजक' म एक 'चौंतीसा' उपलब्ध है। केवल व्यजनो के आधार पर लिखे गए पदसग्रह को यह सज्ञा दी गई है। आचार्य द्विवेदी का अनुमान है कि मुस्लिम सूफी सतो ने इस प्रथा का प्रचार किया होगा।[3] डा० शकुतला दूबे ने भी बिना किसी प्रमाण या तर्क के सम्भत आचार्य द्विवेदी के अनुमान के कारण ही लिखा है—वस्तुत सतो मे इस प्रकार के काव्य रूप की रचना फारसी प्रभाव का ही द्योतन करती है।[4] लेकिन परम्परागत काव्य-रूपो का विश्लेषण करने पर हमारा विचार है कि इसके प्रेरणास्रोत जन कवियो म मिलते हैं। अपभ्रश मे प्रचलित 'दोहा मातका सज्ञक' इसी प्रकार की रचनाए हैं।[5] इस रचना सज्ञक का ही 'ककहरा' के रूप मे विकास हुआ। स्पष्ट ही है कि यह वह काव्यरूप है जिसमे स्वरों को छोडकर (ब्रह्म का प्रतीक ओंकार इसका अपवाद है) क से लेकर सभी व्यजनो के आधार पर पदो की रचना की जाती है। कबीर साहब का 'चौंतीसा' ही 'कबीर साहब की शब्दावली' (भाग 4) मे ककहरा नाम से प्रस्तुत है। बाबा धरनीदास गुलाल साहब तथा भीखा साहब ने भी 'ककहरा' नामक रचनाए की हैं। सूफी कवि जायसी ने इसका एक रूप अपनी 'अखरावट' नामक रचना द्वारा उदाहृत किया है। यारी साहब आदि की भी इस प्रकार की गई रचनाए प्रसिद्ध हैं जो फारसी वर्णमाला के क्रम का अनुसरण करती हैं।

बारहमासा थितीं वारें—ऋतु तथा वातावरण के आधार पर वर्ष के बारह महीनो म क्या करना चाहिए अथवा अन्य अवस्थाओ म, व्यक्ति विशेष पर उसका क्या प्रभाव पडता है, प्राय बारह पदो म इसका चित्रण किया जाता है। इसीलिये इसे बारह मासा की सज्ञा प्राप्त हुई। हिंदी साहित्य कोश

1 क सा प, प 197
2 श्री गु ग्र सा ए प, प 91
3 हि सा आ का प 115
4 का रु मू सा उ वि, प 398
5 हि सा को पृ 597
6 स का प 41

बार की तरह चंचल विरहिणी के रुदन तक ही इसे सीमित करना अनुपयुक्त है।[1] सतों म बारहमासी की परम्परा अपभ्रश से आई है जिसका प्रेरणास्रोत *सम्भवत संस्कृत का षटऋतुवर्णन है।*[2] गुरु नानक ने जीवन को बारह महीनो म विभक्त कर, चमत्य हारर, भक्ति के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति का सदेश दिया है। इस प्रकार जीव को, यम से अपनी रक्षा करने के लिये, सतर्क किया है। पचम गुरु अर्जुनदेव ने भी 14 पदो म 'बारहमासा' लिखकर इस परम्परा का निर्वाह किया है।[3] सत गुलालसाहब एव भीखा साहब के बारहमासो म सत मत क सिद्धान्तो की व्याख्या है, तो सत सुन्दरदास एव पलटू साहब के बारहमासा म विरहिणी (आत्मा ?) का प्रलाप। सूफी कवि 'अफजल' ने भी अपनी रचना 'विकट कहानी' म इस काव्यरूप को विरह वर्णन के लिये अपनाया है और इस का आरम्भ 'सावन' के महीने से किया है तथा सुमेरु छद म लिखा है। सत धरनीदास, तुलसी साहब शिवदयाल, एव सालिगराम आदि ने भी बारहमासे लिखे हैं। इनम प्राय दोहो तथा छन्दो का आश्रय लिया गया है। इसका आरम्भ *प्राय चैत्र मास से होता है।*

प्रतिपदा आदि तिथियो के आधार पर रचित पदो को 'थिती' संज्ञा दी गई है जिसे सत रज्जब जी ने 'पन्द्रह तिथि' भी कहा है। गोरखबानी म हमें ऐसी रचना के दर्शन होते हैं।[4] अमावस से आरम्भ कर पूर्णिमा की ओर उसका विकास 'अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने' का परिचायक है।[5] आदिग्रथ म 16 श्लोकों मे कबीर की भी थिती' मिलती है। इसमे मन को वश म करके गुरु की कृपा से भ्रम को त्यागकर ब्रह्मानुभूति का सदेश दिया गया है। गुरु नानक, गुरु अर्जुन ने भी 'थिती' की रचना की है।[7] गुरु अर्जुन ने 'वार' का आश्रय लिया है। इसम गुरु नानक अधिक सद्धान्तिक है तथा गुरु अर्जुन अधिक व्यावहारिक।

सप्ताह के सात दिनो के नामो के आधार पर रचित पदो को 'वार' संज्ञा दी गई है जिसे सत रज्जब जी ने 'सप्तवार' नाम से भी अभिहित किया

---

1 हि सा को प 512
2 का रु मू सो उ वि प 399
3 श्री गु ग्र सा ए प, प 96
4 म का प 43 44
5 गो ना उ यु प 167
6 मिलाइए— तमसो मा ज्योतिर्गमय।
7 स घा पि प 127
8 श्री गु ग्र मा क्रमश प 343 तथा 296

है। थिती की तरह यह भी गोरखनाथ और उनकी परम्परा मे कबीर मे भी उपलब्ध है। 'ग्रन्थावली' के 'राग गउडी' मे 'थिती' के एकदम बाद ही 'वार' के अन्तर्गत आठ पद मिलते हैं।[1] इसमे भक्ति करते हुए भी, यौगिक क्रियाओ द्वारा उसकी प्राप्ति का सदेश है। 'आदित से आरम्भ होकर 'सुक्र तक के वारो के नाम से स्पष्ट है। 'सनि' का नाम न देकर भी एक पद अवश्य दिया गया है। परवर्ती सतो म यह काव्य रूप बहुत प्रचलित नही हुआ।

वसन्त चाचर हिंडोला—जन मुनिजिन पदम सूरि की अपभ्रश कृति थूल भद्द फागु' के लोकप्रचलित 'फाग' का ही 'वसत विकसित रूप है। बीजक में, बसन्त शीर्षक के अन्तर्गत सगृहीत रचनाओ मे, विषयगत नवीनता न होते हुए भी, आकारगत विभिन्नता है। चौपाई एव पद्धति आदि छदों का प्रयोग हुआ है तथा शैली मे गम्भीरता का अभाव है। वर्षा ऋतु म स्त्रिया लोकगीत के रूप म चाचर का, नृत्य के साथ, गान करती हैं। अपभ्रंश मे इस का चचरी नाम अधिक प्रचलित था और 'प्राकृत पैंगलम् के अन्तर्गत 'चचरी नाम के एक छन्द की भी चर्चा आती है। बीजक मे इस शीर्षक के अन्तर्गत दो पद उपलब्ध हैं जिनमे प्रत्येक पक्ति के अत म 'मन बौरा हो की टेक मिलती है। स्पष्ट ही है कि इसमे मन को सतर्क किया गया है। यह प्राय बसतोत्सव मे भी गाया जाता है।[5] सावन के झूले का प्रतीक 'हिंडोला' नामक काव्य रूप भी लोकगीत की परम्परा म ही सतो ने अपनाया है। 'बीजक म तीन रचनाए इस शीर्षक के अन्तर्गत उपलब्ध हैं।

कहरा, बेलि, बिरहुली कथा विप्रयतीसी— ककहरा' से भिन्न 'कहरा भी लोकगीतो की परम्परा म प्राप्त काव्यरूप है, जिसमे कबीर के 12 पद बीजक मे उपलब्ध हैं। 'बेलि शीर्षक से 'ग्रथावली म प्राप्त दो रचनाओ की प्रत्येक पक्ति का अत 'हो रमैया राम से होता है। किंतु सत दादू दयाल की रचना 'कायाबेलि म इस प्रकार की बात नही देखी जाती। प्रसिद्ध राजस्थानी 'वेलि से भिन्न होते हुए यह भी प्रचलित लोकगीतो से ही विकसित हुई है। विरही आत्मा ने परमात्मा के वियोग मे 'बिरहुली नामक काव्य रूप म पद गाया है। आचार्य द्विवेदी ने 'बिरहुली का प्रयोग 'विषय रूपी सर्प के विष को

1 वही, प 344
2 हि सा आ का प 115
3 हि सा को प 598
4 हि सा आ का- 114
5 क सा प पृ स—3

उतारने वाला गार' के अथ म किया है ।[1] और परशुराम चतुर्वेदी जी न 'विर हणी' के अथ म ।[2] प्रगग को ध्यान म रखते हुए हम चतुर्वेदी जी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'बीजक' म एक रचना 'विप्रमतीसी' नाम से भी मिलती है जिसे हम निबाक सम्प्रदाय के परशुराम देवाचाय वाली इस नाम की रचना से अधिक भिन्न नही ठहरा सकते। इसम चौपाइयो की 30 अर्धालियाँ हैं। चतुर्वेदी जी का अनुमान ठीक ही जचता है कि इन्हें देखकर ही इसका नाम 'तीसी' पडा होगा।[3] सता द्वारा प्रयुक्त एक अन्य काव्यरूप वणजारा भी दीख पडता है जिसे अधिकतर चेतावनी देते समय काम म लाया गया है।

सतो का अधिक काव्य साखी तथा पदों म ही उपलब्ध है, जिसम उन के व्यक्तित्व के दोनो पक्ष—'अनुभूत सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति' तथा भावुकता प्रवण गान—और सभी प्रधान विषयो का समावेश हो गया है। परम्परागत लोकगीतो को काव्यरूप प्रदान कर सतो ने अपने काव्य को जनसामान्य का काव्य बना दिया। इसी से इनकी वाणी अक्षुण्ण बनी रही है।

● ● ●

---

1 हि सा आ का, प 112   2 क सा प, पृ 206
3 वही प 206

• • • 'शेख फरीद का चिन्तन'

भारतीय चिन्ता धारा के विकास में शेख फरीद का अद्वितीय योगदान है। मुस्लिम आक्रमणों से आतंकित मध्ययुग का समाज न केवल उन्हें नृशंस, अन्यायी व अत्याचारी ही समझने लगा था, अपितु भारतीय विचार धारा का परम्परागत विरोधी भी। लेकिन शेख फरीद ने मुस्लिम धर्म व संस्कृति के उन मानवीय तत्वों को उभारा, जो मानव-मात्र की सामूहिक दायाद्य के रूप में युग युग से विकसित होते चले आ रहे थे। यही कारण है कि राजनैतिक दृष्टि से अत्याचारी, सामाजिक क्षेत्र में अनाचारी तथा धार्मिक मान्यताओं में असहिष्णु मुस्लिम आक्रान्ताओं को भी उनके इन्हीं दरवेशों ने भारतीय जन समाज के लिए ग्राह्य नहीं तो कम से कम समाहृत रूप में सह अस्तित्व का प्रश्रय प्रदान किया। ऐसे दरवेशों में शेख फरीद ही अग्रगण्य हैं, जिन्होंने मध्य-युगीन संतों में ऐसा ताल-मेल बिठाया कि दोनों ही धर्म, कर्म, अर्थ, रूप, रंग व जाति के भेद भाव को भूल कर मानव मानव की एकता के धरातल पर मिले। इससे स्पष्ट है कि शेख फरीद का चिन्तन मध्य युगीन भारतीय चिन्ता धारा की लड़ी की एक महत्त्व-पूर्ण कड़ी है।

मुस्लिम संस्कृति की देन होने के कारण उनका धर्म नियात्मक अधिक था, मद्धांतिक कम। उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप पर उतना विचार नहीं किया जितना इस बात पर कि मानव को उस तक पहुंचने के लिए किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए। उन्होंने जीव को उसके रूप, स्थिति एवं कर्तव्य के प्रति ही अधिक सतर्क किया है। संसार की सापेक्षिक स्थिति एवं महत्त्व बताते हुए धर्म को कभी भी भुलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी मान्यताएं एवं विश्वास लौकिक हैं अतः धर्म के व्यावहारिक पक्ष के अधिक निकट हैं। उन्हीं का वहां

क्रमबद्ध विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्म —

परवदगार अपार अगम बेअ्रत तू

फरीद भगवान की अपार कृपा स परिचित है, उसका उसके दार्शनिक रूप से नही, अपितु लौकिक रूप से ही अधिक सम्बन्ध है। उसने 'गू गे के गुड' का मिठास अनुभव किया है इसलिए उसने कहा है कि चीनी, शहद और दूध मीठ तो सभी हैं लेकिन 'रब न पुजनि तुधु।' रब (भगवान) के मिठास से इनकी तुलना नही की जा सकती। उसके इस मिठास को चखना है तो उसके निवास स्थान पर पहुचे वह तो 'वसे रबु हीअ्रालीऐ' हृदय मे निवास करता है। ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे फरीद की इस वाणी म इतना ही परिचय मिलता है सम्पूर्ण जगत का एक मात्र नियन्ता वही है। लेकिन फरीद को उसके आश्रयदाता एव कृपालु रूप ही अधिक प्रभावित कर सके हैं। इस अत्यधिक दुःखो से भरे ससार मे जीव का एक मात्र आश्रयदाता वह ब्रह्म ही है। फरीद ने युवक को समझाया कि इसी अवस्था का सदुपयोग करना चाहिए, बुढापे मे इन्द्रियो के अवश हो जाने पर जाप भी न हो सकेगा। लेकिन गुरु अमरदास उसकी इस विचारधारा से सहमत न थ, अत उन्होने कहा—भगवान की कृपा होनी चाहिए और जीव की इच्छा होनी चाहिए जप तो बुढापे मे भी हो सकता है। सो स्पष्ट है कि भगवान् की कृपा का कितना महत्त्व है। इस कृपा के बिना मानव-जीवन और जीवन-यात्रा दोनो बेकार ही नही, अपितु भार हैं। इतना ही नही, यदि भगवत्कृपा प्राप्त कर ली तो बहिश्त म मिलने वाले खजूर और शहद भी यही मिल जाएगे। फरीद ने कहा कि यह भगवत्कृपा जागने वाले अर्थात भगवद्भक्ति म लगे हुए व्यक्तियो पर ही होती है। लेकिन गुरु नानक ने विरोध किया कि भगवत्कृपा तो अनायास ही होती है और जिन पर उसने कृपा करनी होती है, सोते हुए भी उन्हे जगा लेता है तथा बहुत से जागते हुए भी उसे नही पाते। अत भगवत कृपा के लिए किसी विशेष जीवन की आवश्यकता नही क्योंकि—

> किआ हसु किआ बगुला जा कउ नदरि धरे।
> जे तिसु भावै नानका कागहु हसु करै॥[1]

उसकी कृपा होनी चाहिए वह स्वत ही काग को भी हस बना लेता

1 124 म 3

है। इस प्रकार जिन पर भगवान् की कपा होती है, उन्ही का जीवन ससार म सफल है क्योंकि 'करि किरपा प्रभि साथ सगि मेली कपा करके भगवान जीव को उन साधुओं से मिला देता है, जो 'जा होइ कृपालु त प्रभू मिलाए। कृपा-दृष्टि कर जीव को भगवान स ही मिला देत हैं। अत फरीद का ब्रह्म सब-आश्रयदाता एव कृपालु है और उसकी महानता को उसने इन शब्दो म स्वीकार किया है— जे त रबु विसारिआ त रबि न विसरिओहि। कि जीव भगवान के पास से आकर उसे भुलाने की कृतघ्नता कर सकता है, पर उसको सब का ध्यान है। इतना ही नही, उसने तो जीव को यहा तक विश्वास दिलवाया है कि हे अबोध जीव 'जे तू मेरा होई रहहि सभु जगु तेरा होइ। तब भी यदि जीव उसकी कपालुता न अनुभव कर सके, तो उसका क्या दोष ?

जीवात्मा—

फरीद ने अनुभव कर लिया है कि चाहे सारा ससार मर जाए, लेकिन पवित्र आत्मा अमर है और इस देही को देही म धारण करने वाला जीव तो ससार रूपी सुन्दर उपवन का पक्षी रूपी अतिथि है। अत उसे घमण्ड कैसा ? वह तो सम्पूर्ण जगत को ही अपनी भाति दुःखी अनुभव करता है। बेगुनाहों को यम की चपेट में आया देख कर वह सोचता है कि 'हम लोका का किआ हालु क्योकि आत्मा अकेला है और जगत के प्रलोभन अनत। जीव उनम फस ता जाता है, पर उसे भगवान पर आशा है, सम्भवत इसीलिए भगवान उसे धैर्य बधाता है कि 'अपना सुधार कर मुझ मे चित्त, लगाओ, अखिल विश्व ही तुम्हारा होगा। जिन्होंने ससार के इस भ्रम को समझ लिया है वे बच जाते हैं, अ यथा दूसरे सब जीवा को यमराज को लेखा देना पड़ता है। इस प्रकार भगवान का अनुभव करके जीव साहस एकत्र करता है और सुख-दुख मे (सुख-दुखे समे कृत्वा गीता) एक रस हो तथा हृदय से पाप निकाल देने पर जीव भगवत्कृपा स उसके दरबार मे पहुच जाएगा। अत जीव को सदेश दिया है कि–'मरणहु न डरिआहु क्योकि मर कर तो जीव अपने ही घर चला जाता है। इस प्रकार एक मात्र पति भगवान् को प्रसन्न करने वाले सुखी जीवन बिता पाते हैं। यह सारे ससार को अपनी ही तरह दुःखी देखने वाले फरीद का गुरू अर्जुन ने समझाया था।

जीव कोटि म अपना विशिष्ट स्थान बनाने वाले हैं साधु सत एव सतगुरू। फरीद न कहा है कि असली साधु बनना कठिन है, सरल एव दृढ आत्मावाला वह व्यक्ति जो अपना सब कुछ बाट कर खाता है, सत कहना

जाता है। स्वयं विषयों में फँस कर, जीव को भी 'विषु गन्दे' संसार से बचने के लिए सावधान कर स्वयं ही विषय वासना के भवसागर से पार ले जाने वाला सतगुरु ही है। अतः उसी के बताए हुए मार्ग पर चलना चाहिए। फरीद के अपने व्यक्तित्व का निर्माण ऊपर हो चुका है।

इस आत्मा का आवरण है देह। यह देह 'साढ़े अ मण' का हो गया है सम्भवत सांसारिक पापों के भार के कारण ही। लेकिन इतना भारी होते हुए भी यह स्थिर नहीं, क्योंकि यह तो 'विषु गंदला' है। परिणाम स्वरूप आँख, कान थक गए और पैर आदि देह के सम्पूर्ण अंगों ने भी साथ छोड़ दिया। यह बुढ़ापा आ गया जिसके कारण 'कंपणि लगी देह' तथा इस प्रकार जीर्ण हुई देह धूल में मिल जाएगी। इसीलिए चित्त को शीघ्र ही भगवान में लगाना चाहिए। फरीद पछताता हुआ कहता है कि यदि उसे देह की क्षणभंगुरता का पहले ही ज्ञान होता तो वह अवश्य ही इसका अधिक सदुपयोग करता और अब तो इस देह को भगवान के नाम के बिना श्मशान घाट पर पहुँचा हुआ ही समझना चाहिए क्योंकि शेख का अनुभव है कि 'बारी आपो आपणी चले मसाइक शेख'। अपनी बारी आ जाने पर कोई भी तो नहीं रुका। यह सुन्दर देह रूपी बर्तन शीघ्र ही टूट जाएगा तथा जीवन नष्ट हो जाएगा। अतः हे आलस्य में पड़े हुए जीव! यह न भूल कि मानव देह को तू आसानी से नहीं पा सकता क्योंकि आवश्यक नहीं कि मृत्यु के बाद मानव जीवन ही मिले। 'इहु तनु होसी खाक' अथवा गलने पर इसे तो कीड़े खा जाएंगे। इन सब बातों को ध्यान में रख कर जीव को यथाशीघ्र ही भगवान में चित्त लगाना चाहिए लेकिन मायालिप्त जीव कैसे समझे? अतः फरीद तो यह कह कर शांत हो जाता है—

हसु चलसी डुमणा अहि तनु ढेरी थीसी।

यह आत्मा चली जाएगी और देह धूल की ढेरी मात्र बनी रह जाएगी।[1]

जब देह ही अस्थिर है, तो इस देह के कारण उत्पन्न सम्बन्धों की स्थिरता में ही क्या विश्वास? मित्र तो बहुत बने, लेकिन विपत्ति आने पर एक ने भी साथ न दिया, इसीलिए फरीद दुःखी है। अन्य सम्बन्धियों की बात तो दूर रही, स्वयं माँ बाप को मरता देख कर भी तुम सांसारिक सम्बन्धों के असत्य एवं अनित्य होने में विश्वास नहीं कर सके। फरीद की आत्मा तो कटु सत्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है—

---

1 794 फरीद 2

फरीदा लोका आपो आपणी मै आपणी पई ।[1]

क्योकि सम्पूर्ण ससार को देख कर उसने अनुभव कर लिया है कि यहा 'ना को साथी ना को बेली', निस्सहाय जीव अकेला ही है। अमवश सबधों के मोहपाश म फसा हुआ, जिसका भान उसे मत्यु आने पर होता है, जब कोई साथ नही द पाता। अत एक मात्र असली सम्बधी भगवान से ही सम्ब ध जोडने का विचार करना चाहिए।

जिस ससार म सब सम्ब ध ही असत्य हैं उस ससार का रूप भी देख लेना आवश्यक है—

फरीदा गलीए चिकड़ु दूरि घरु नालि पिआरे नेहु।
चला त भिजै कवली रहा त तुटै नेहु ॥[2]

यह ससार तो वह दलदल है जिसमे रहने पर तो भगवान से नेह का बधन टूट जाता है और उस दिशा म चलने पर सुन्दर प्रतीत होने वाली देह उसम लिप्त हो जाती है। यह तो ऐसा परिवर्तनशील जगत है, जिसमे सावन में बिजली और वन म जगल की आग के दर्शन होते हैं। यह सम्पूण ससार विसु गरना है अत यहा छ महीने आकार लेकर एक महीने म अलग होने वाल जीव का जीवन क्षणिक है। इसलिए इन सासारिक विषयों मे लिप्त रहने म भगवान नहा मिल सकता अपितु भगवान से दूर रहने पर ये दु ख तो नित्य प्रति बढत ही जाते हैं। सासारिकता के कारण यथा जीव 'किझु न बुझै किभु न सुझै दुनीआ गुझी भाहि। ससार की उलझन स सुलझ ही नहीं पाता, क्योंकि उस तो यह यथा कुछ समझ ही नही आता। इसलिए जीव को समझाया है कि इस सासारिकता म उलझ कर तुम न तो साधु बन सकते हो और न ही भगवान को पा सकते हो। यह सब सासारिक सम्पत्ति बेकार है क्योंकि इसके होते हुए भी सब को यम का शिकार होना पडता है, इसलिए यह न भूलो कि तुम्हें अतत कब्र म जाना है। यही विचार मन म लाते हुए सासारिक नश्वर सम्पत्ति का मोह छोड कर भगवान म चित्त को लगाओ क्योंकि नश्वर सम्पत्ति के लालच म फसने वाला तो स्वत ही नष्ट हो जाता है। इस पर विश्वास नही तो जरा सोचो—

'जिसु आसणि हम बैठे केते बैसि गइआ। कि जिस स्थान पर हम बैठे हैं यहा कितने पहले बैठे और चले गये। ससार का प्रत्यक्ष महल भी तो

---

1 94 श्लोक 2 24 श्लोक

एक सराय ही है जन सामान्य की न सही, तो बादशाहों की ही सही। सता के तर्क सहज तर्क हैं, वे मस्तिष्क से अधिक हृदय को गुदगुदाते हैं और अनायास ही अपनी बात मनवा लेते हैं। फरीद की यह उक्ति इसका जीवन्त प्रमाण है—

जितु दिहाडे धन वरी साहे लए लिखाए।[1]

ऐसे ससार म जीव अपने रहने के दिन तो पहले ही निश्चित करवा कर आया है क्योंकि उसे पता है कि मृत्यु आवश्यक है और मत्यु से पगडी ही क्या, यह सिर भी मिट्टी म लोटेगा। मत्यु किनारा को बहा देने वाली भयानक नदी के समान है। उसे देख कर दोज़ख के दुख सामने आ जाते हैं। क्योंकि वहा से लेने जो यमराज आया है, वह तो आशा से भरे मनुष्य की आखो का दीया बुझा कर सगे सम्बधियो के सामने ही उसे खीच ले जाता है। आज या कल मृत्यु है तो आवश्यक इसीलिए भलाई इसी म है कि अपने मित्रो और सबधियो से अभी हा छुट्टी ले लो तथा जीवन के दिन समाप्त होने स पहले ही भगवान से भेदभाव दूर कर लो। वहा जाने पर तो धमराज ने ससार मे किए हुए कामो का लेखा मागना ही है। अत ससार मे बेकार काम न करो अपितु अच्छ काय करते हुए उसका नगाडा सुनते हा चलने के लिए तैयार हो जाओ। परन्तु ससार म लिप्त जीव सबको मरते देख कर भी स्वाथ म उलझा रहता है। केवल यम की याद आने पर ही वह सासारिक विषयो को भूल सकता है और सासारिक विषयो को भुला देने वाला जीव तो मृत्यु स डरता ही नहीं क्योंकि वह तो भगवान से मिलने चला है। वस्तुत ससार म सब मरते है परन्तु ऐसी पवित्र आत्माए तो सदा ही अमर रहती हैं और यमराज तो उनके पास फटकता भी नही।

यम के नगाडे ने जब जीव को सतर्क किया तो उसे अपने जीवनोद्देश्य का ध्यान आया। फरीद ने बताया कि तुटउ नाही नेहु भगवान स प्रेम न तोडो तभी तउ वजणा' जहा जाना है वहा पहुचोगे और यह पहुच भगवान के मिलन तक की ही है। यही मानव जीव का साध्य है।

साध्य का ज्ञान हो जाने पर जीव का साधना पर ध्यान देना आवश्यक होता है। भगवत्प्राप्ति का सबसे प्रधान साधन है भगवत्कृपा का प्राप्त करना क्योंकि वह कृपा ही तो बगुले (सासारिक जीव) को हस (पवित्र

---

1 1 श्लोक

आत्मा) बना सकती है, तथा सभी बहिश्त के सुखो को जमीन पर ही अनुभव करवा देती है। इसका विस्तत वणन पहले आ चुका है। संक्षिप्ततः उस भगवान की कृपा से ही सतगुरू और जप मिलता है जो भगवान को मिलाने मे विशेष सहायक हैं। वह गुरु जिसका रूप पीछे दिखाया जा चुका है, उसी ने आ कर जीव को सतक किया 'पथु सम्हारि सवेरा हो गया है। केवल सतर्क ही नहीं किया, अपितु स्वत माग भी दिखा दिया, इस प्रकार साई मेरे चगा कीता' उस गुरु ने ही मेरा भला किया और मुझे इस ससार से बचा दिया।

सतगुरू भगवत्प्रेम पैदा करता है क्योंकि भगवत्प्रेम के बिना जन्म बेकार है। 'जीवन जादे न डरा जे सहु प्रीति न जाए। जीव को युवावस्था के समाप्त हाने का भय नही, अपितु भगवत्प्रीति नष्ट नही होनी चाहिए और वह प्रेम भगवत्प्रेम नही जिसमे लालच है, आखिर टूटे छप्पर मे वर्षा से कितनी देर बचा जा सकता है? इसलिए वह प्रेम वास्तविक होना चाहिए और वास्तविक प्रेम के लिए आवश्यक है तडपन।

भगवत्प्रेम मे उत्पन्न तडपन की तृप्ति का साधन है नाम। इसलिए उन्होने भगवान को नाम द्वारा प्राप्त करने का सदेश दिया है क्योंकि नाम के बिना जीव न केवल दुखी होता है अपितु वह भूमि पर भार-मात्र बना रहता है। इसे फरीद ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

विसरिया जिह नामु ते भुई भार थीए।[1]

इतना ही नहीं, इस नाम के बिना वे शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। नाम का ही महत्त्व बताते हुए उन्होने कहा कि देह मे नाम रम जाने पर भी रक्त नहीं रहता। उसी की व्याख्या मे गुरू अमरदास ने स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण देह तो रक्त से भरी रहती है, परन्तु नाम अपना लेने पर जीव का रक्त सासारिक विषयो से निर्लिप्त हो जाता है। नाम के साथ ही फरीद ने सिमरन का भी महत्त्व स्थापित करते हुए रात दिन सोते हुए जीव को 'खटण-वल (कमाई के समय) की याद दिलाते हुए नाम के लिए प्रेरित किया है क्योंकि भगवत्स्मरण बिना जीवन व्यथ बीत रहा है। फरीद ने बुढापे मे शरीर की असमर्थता बताते हुए युवावस्था मे भी भगवत्स्मरण का सदेश दिया है, तो ततीय गुरू ने युवावस्था व्यय गवा देने वालो को भी समझाया कि बुढापे मे भी भगवत्स्मरण किया जा सकता है, जो समय निकल गया उसके लिए

1 488 फरीद 1

पछताने की आवश्यकता नही लेकिन यह न भूलना चाहिए कि यह स्वय भगवत्कृपा से ही प्राप्त होगा।

इस प्रकार यह नाम और जाप ही उस भक्ति के अग हैं जो प्रारम्भ म फल स्वरूप होती है और इसी का परिपक्व फल होता है, भगवत्मिलन। यह उ ही को प्राप्त है, जिन पर भगवत्कपा होती है। फरीद भगवत्कपा के महत्त्व को कही भी भुला नही पाता। फरीद का अनुभव है कि इस भक्ति क लिए आवश्यक्ता है अन यता की। अपनी सभी शक्तिया सगहीत करके एकाकी भगवान म ही लगा देनी चाहिए क्योकि छोटे ताल-तलय्या मे नहाने पर तो शरीर साफ होने के स्थान पर कीचड म ही भर जाएगा अत अ यान्य देवी-देवताओ को छोड एक मात्र पूण भगवान का ही आश्रय लेना चाहिए। तब भी भगवत्कपा प्राप्त करने के लिए धय की आवश्यक्ता है और भक्ति के लिए एकान्त की। अनवरत एकात मे किया हुआ भगवदभजन शीघ्र ही फलदायी होता है।

फरीद के भगवत्कपा के साधना मे सबसे अधिक महत्त्वपूण स्थान है सत्कम एव सदगुणो का। ससार से जात समय भगवान की कचहरी म एक मात्र सत्कम ही साथ देते हैं और जीव को कर्मानुकूल फल मिलता है। अत उसे ज्ञात है कि सत्कर्मों के बिना न केवल जीव का बुरा हाल होता है अपितु उसे दड भी मिलता है। इसलिए साधु का भेष धारण करने का महत्त्व नही बल्कि उस वेश के अनुकूल सत्कर्मों का महत्त्व है जो भगवत्कपा के माध्यम से जीव को भगवान तक पहुचा देते हैं। इसलिए सबसे बडा सत्कम है भगवत्सेवा क्योकि भगवत्सेवा से ही हृदय के सब सदेह दूर हो जाते हैं तथा मन पवित्र हो जाता है। इतना ही नही मन पवित्र करने क लिए ही हस-आत्मा सत्सग की ओर दौडती है, क्योकि गद पानी (सासारिक विषयो) से कभी उसकी प्यास नही बुझती। साथ ही साधुओ की पहचान भी बता दी कि जो विषय वासनाओ म न फर्मे। कही अबोध जीव साधुओ के भ्रम म आडम्बरियो क पास न फस जाए। वस्तुत इस निरन्तर सत्सग स ही हृदय पवित्र होता है और पवित्र आत्मा से मिल कर ही भगवत्प्राप्ति होती है। पराजित सत्सग रूपी सत्कम क अति रिक्त मन को पवित्र करने का एक व्यक्तिगत साधन और भी है और वह है आत्मनिरीक्षण। दूसरो क दोषो को न देख कर अपने ही हृदय को टटोलने की *आवश्यक्ता है। बुराइयो क मिल जाने पर पच इन्द्रियो को वश म करक* मन को पवित्र करना चाहिए, इस प्रकार मन के पवित्र होने पर उन सदगुणो

सकेगा। जीवन की विभीषिकाओं से तंग आकर एक स्थान पर फरीद ने कहा है कि 'अच्छा होता, यदि मैं जन्म लेते मर जाता, तब सांसारिक दुख और पीड़ा तो न सहनी पड़ती।' लेकिन यह विचार गुरु विचारधारा का विरोधी है। पीलो के ऐसे ही विचार में निराशावाद झलकने के कारण ही तो गुरु अर्जुन ने उसकी वाणी को 'ग्रंथ' में स्थान न दिया था। लेकिन ग्रंथ भर में यही एक स्थान है जहाँ अप्रत्यक्षतः विरोधी विचारधारा के होते हुए भी गुरुओं में से किसी ने उसकी आलोचना नहीं की। स्वतः फरीद ने ही एक स्थान पर कहा है 'धिगु तिन्हा दा जीविआ जिन्हा विडाणी आस।' आशा छोड़ने वालों के जीवन को धिक्कार है। इसमें स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन में निराशा नहीं आशा का महत्त्व स्वीकार किया है और उसी की स्थापना की है। वह अवश्य ही उनके उद्विग्न क्षणों का उच्छ्वास है सुचिंतित विचारधारा नहीं।

'फरीदा गलीए चिकड़ु दूरि घरु नालि पिआरे नेहु।' प्रिय भगवान से मिलन के लिए यह जो मार्ग का कीचड़ु (कीचड़) है उसका ज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि बिना ज्ञान के इस कीचड़ से बचा नहीं जा सकता और उससे बचे बिना भगवत्प्राप्ति नहीं। सांसारिक सम्पत्ति का मोह यथ है। उसका विस्तृत विवरण पीछे दिया जा चुका है। जिसु आसणि हम बैसे केते बैसि गइआ। इतने मात्र से ही स्पष्ट है कि जिस आसन पर हम बैठे हैं, उस पर न जाने कितने बैठ और चले गए, अतः इस सांसारिक सम्पत्ति के प्रलोभन में जीव को ब्रह्म को न भुलाना चाहिए और सम्बन्धियों का मोह भी बेकार है क्योंकि हम विस्तार में देख ही आए हैं कि इस संसार में न कोई साथी न कोई संगी। अतः उनमें फंसे रहना भी बुद्धिमत्ता नहीं। इन दो प्रकार के बाह्य मोह के अतिरिक्त आंतरिक विषय वासनाएं ही मानव जीवन की आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ी अवरोधक शक्तियां हैं। ये अच्छे लगने वाले विषय ही मानव-जीवन को नष्ट कर देते हैं। 'सकर होई विसु' और जीव कहीं का भी तो नहीं रहता। यह संसार तो विषय वासना की अविरल गति से बहने वाली नदी है जिसमें बेचारा जीव बहता रहता है। इस प्रकार विषय तो कभी समाप्त नहीं होते और उनके किनारे रहने वाला जीव किस तरह कब तक बच सकता है? वासना में फंसा हुआ जीव बूढ़ा हो गया लेकिन वासना न छोड़ पाया। अतः उसे समझाया है कि एक बार अधिक जल से गली हुई खेती की तरह वासनाओं से जीर्ण जीव का उद्धार कठिन है।

इस प्रकार सांसारिक भोगों से विवाहित जीवात्मा दुखों से ही भर

जाती है परन्तु वास्तविक पति को नहीं प्राप्त कर पाती। अंगों का क्षीण होना देख जीव वासनाओं से प्रार्थना करता है कि इस आत्म को ए काग नष्ट न कर यह प्रियतम भगवान को देख ता सकेगी। गुरू अर्जुन ने बताया कि जिन पर भगवान कृपा कर देता है, वे विषय-वासना से बचे रहते हैं। इन विषय वासनाओं स मन अपवित्र हो जाता है बुद्धि विकृत हो जाती है और 'अहं जागृत हो जाता है। यह जागृत 'अहं' जीव को भगवान के सामने झुकने ही नहीं देता, परिणाम स्वरूप वह भगवत्कृपा का भाजन ही नहीं बन पाता, तो मिलन की तो बात ही दूर रही। इसलिए 'जो सिरू साईं न निवें सो सिरू कपि उतारि। न झुकने वाले सिर को न केवल काट ही दिया जाए अपितु 'कुनैं हठि जलाइए बालण सदे थाइ।' लकड़ी के स्थान पर भट्ठी म जला देना चाहिए। अहंकार के साथ साथ दूसरे की वस्तुओं को प्राप्त करने का लोभ भी जीव को दुष्कर्मों की ओर प्रेरित करता है। इन दुर्गुणों के साथ उनमें उत्पन्न दुष्कर्म भी जीव की ब्रह्म प्राप्ति मे बाधक सिद्ध होते हैं। जब जीव ने बेकसूर घडियाल पर मार पड़ते देखी तो उसका अंतर यह सोच कर विचलित हो उठा कि 'हम दोसा का किआ हालु।' क्योंकि पाप करने पर तो अवश्य ही भगवान की मार पड़ेगी। इस बात का उसे ज्ञान है कि बुरे कर्मों का फल तो बुरा ही होता है। अतः व्यर्थ के कार्य छोड देने चाहिए क्योंकि जीवन उनसे पार भी नहीं लग सकता और उसे इन सब का धर्मराज को लेखा भी देना पड़ेगा।

इस प्रकार इन सब दुर्गुणों का विरोध करते हुए इनके लिए जिन बाह्याडम्बरों की आवश्यकता होती है उनका भी विरोध किया है। जिस प्रकार कस्तूरी की (वास्तविक या आंतरिक) सुगंध के बिना बाहरी कृत्रिम सुगंधि व्यर्थ है उसी प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि के बिना बाह्यस्नान का कोई महत्त्व नहीं। अतः भेषधारी वह साधु व्यर्थ है जिसके अंतर म मैल भरी हुई है, क्योंकि ऊपर से साधु का वेष धारण करते हुए भी वह दिल से धोखेबाज ही होता है। यह विचार कर फरीद ने कहा कि पाड़ि पटोला धज करी कवलड़ी पहिरेउ। अच्छे वस्त्रों को फाड कर सादे वस्त्र धारण करो जिस वेष म भगवान मिल सकें। लेकिन गुरु अमर दास ने इसकी आलोचना म कहा कि उन वस्त्रों को फाडने की आवश्यकता नहीं भगवत्प्राप्ति के लिए तो मन को पवित्र करना चाहिए तथा पंचम गुरू अर्जुन ने बताया कि उन वस्त्रों और देह को ही भगवान के रंग म रंग लेना चाहिए, यही भगवत्मिलन की सच्ची तैयारी है।

'फरीदा जगलु जगलु किम्रा भवहि', सयास धारण कर जगलो म घूमने वाले सयासी को सावधान किया है कि वह तो हृदय म है, जगलों म घूमने की क्या आवश्यकता ? क्योकि वन म भी तो मौसम बदलता रहता है, अत नाति तो वहा भी नही वह तो केवल अतर म ही है। गुरू जी न भी यह कहते हुए इसका समथन किया 'नानक घर ही बठिम्रा सहु मिलै केवल नीयत साफ होनी चाहिए, मन पवित्र होना चाहिए।

इस प्रकार उन्होने केवल उपदश देने को बेकार बताया है, विशेष कर मायालिप्तो को क्योकि वे तो ब्रह्म मे लगने से रहे। इतना ही नही फरीद उनका उपदेश सुनकर इतना तग आ गए कि उन्होने अपने कान ही बद कर लिए।

सभवत अनत एव अक्षय ब्रह्म के असार ससार मे जीव को उसकी सत्ता से परिचित करा कर यम का भय दिखा कर, भगवत्प्राप्ति साध्य जता कर, मुक्ति सत्कम एव सदगुणो का महत्त्व बता कर इन अवरोधक शक्तियो का ज्ञान करा कर फरीद न अपने क्रियात्मक जीवन के माध्यम से मन, वचन तथा कम म एकता का पाठ पढाते हुए जीव को सत्कम करते हुए, भगवत्कृपा के माध्यम स ब्रह्म प्राप्ति का अमर सदेश दिया और स्वत भी अमर हो गए। यही है शेख की शखी मे भी दरवेश की दरवेशी और फकीर की फकीरी म भी फरीद की फरीदी।

उनकी शैली उपदशात्मक है क्योकि वह उनके क्रियात्मक व्यक्तित्व का ही प्रस्फुटन मात्र है। उनके भाव लौकिकता के माध्यम से अभि यक्त हुए हैं अत न केवल ममस्पर्शी एव मधु प्रतीत होते हैं अपितु ग्राह्म भी बने हुए हैं। उनके बोल कोयल की कूक की तरह मीठे हैं, उनकी कल्पना का भी वितान बुन देने वाली है। उनकी भाषा जन सामा य की होकर भी साहित्यिक भाषा है। उनके विचार मुस्लिम होने पर भी मानव मात्र क विचार है, इसलिए उनका व्यक्तित्व सत होने के कारण मानव धम का प्रसारक है। शेख फरीद की बाणी स गुरू नानक इतना प्रभावित हुए थे कि उनके राग सूही पद की पूर्ति ही उन्होने इसी राग म अपने पद म की है। इतना होने पर भी यदि पजाबी साहित्य न उन्हे पजाबी साहित्य का पिता कह कर अपने आप को सम्मानित कर लिया, तो अधिक क्या किया ? ऐसा महान है सत शेख, कवि शेख और पजाबी साहित्य का पिता—शेख फरीद।

● ● ●

• • • 'नामदेव के 'नाम' की चेतना'

महाराष्ट्रीय संत नामदेव ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों की आराधना एक मात्र 'नाम' के माध्यम से ही की है। वस्तुतः ब्रह्म के अन्य रूपों एवं गुणों की उन्होंने कभी चिंता नहीं की, क्योंकि उनके 'नाम' का आधार ही ब्रह्म के सभी लौकिक एवं अलौकिक रूप व गुण ही थे। इसीलिए मूलतः निर्गुण के उपासक होते हुए भी 'नाम' ने उन्हें सगुण के भी बहुत निकट ला दिया। 'नाम' को 'देव' मानकर, उसमें ही अपने स्वत्व का विलय कर नामदेव ने अपने नाम को सार्थक करने का प्रयत्न किया है।

'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति यहां पूर्णतया चरितार्थ होती है, यह तो कथनी और करनी में ऐक्य' वाले संतों से भी एक कदम आगे उन दोनों का नाम से भी ऐक्य स्थापित करने वाले सिद्ध हुए।

सांसारिक जीव होने के कारण उसे भवसागर से तरना अवश्य है, अतः भगवान् से प्रार्थना की है, 'मोकउ तारि ले रामा तारि ले'[1] क्योंकि 'मैं अजानु जनु तरिबे न जानउ बाप बीठुला बाह दे।'[2] जीव यदि पूर्ण आत्म-समर्पण करके भी भव-पार पहुंच सके तो उसे और क्या चाहिए, इस प्रकार न जाने कितने स्थलों पर उसने भव-पार पहुंचने के लिए भगवान् से 'तारिले' की प्रार्थना की है।[3] भव से तरने के लिए आवश्यक है कि जीव की यम से रक्षा होनी चाहिए इसीलिए 'जम ते छूटै'[4] का साधन उसने गुरु द्वारा प्राप्त 'नाम बताया है और नाम मिलने पर तो वह रात-दिन नाम का जाप कर मन (गज)

---

1 2 पृ 873 नाम 3   3 पृ 1196 नाम, 2

4 पृ 167 नाम, 11

द्वारा नाम कर जिह्वा (कैंची) से उसे काट देता है तथा इस प्रकार यम से रक्षित हो जाता है।[1] यम से रक्षा करने वाला हरि ही जाएगी, जब उसकी अनुभूति हो जाए। उसके लिए मधुर मधुर धुनि अनाहत नाद[2] को सुनने की आवश्यकता है। क्योंकि साधना का साध्य तो है ही गोविन्द प्राप्ति और वह 'गोविन्द सग हमारै प्रीति'।[3] अन्तर में वह 'अनाहद' वेणु बजाएगा और शून्य समाधि लगाएगा।[4] शून्य में समाधि लगी रहने पर स्वतः ही भगवत् मिलन हो जाता है अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके लिए आवश्यक है उस के एक ही नाम के माध्यम से अनन्य भक्ति की। यह भक्ति ही सन्ते भक्त का साधन होते हुए भी साध्य होती है, क्योंकि साधना की परमावस्था स्वतः साध्य में परिणत हो जाती है। इसलिए तो जाचहि सत जन क्या जाचहि? हे भगवान्! 'भगति दानु दीजै'[5] संसार की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति भगवान् की अमूल्य देन मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट वरदान और भक्त का सर्वस्व। यह दान एक बार मिल गई, भक्त संसार के लिए पागल हो जाता है दरद दिवाणी मीरा की तरह उसे लोक, कुल परिवार और समाज की मर्यादाओं से अधिक अपनी और भगवान् की मर्यादा का ध्यान होता है। इसीलिए तो भक्त की आत्मा पुकार उठती है 'तेरी भगति न छोडउ भाव लोगु हसै'[6] उसे लोगों के हसने या रोने की क्या परवाह? उसकी मस्ती अनन्य है और है अनंत।

इतना सब होते हुए भी भक्त भूल नहीं पाता कि वह मूलतः जीव है, अतः लौकिक भी। इसलिए यम से रक्षित होकर भव-पार पहुंचने के बाद भी उसे जनम मरन सताप हरिभो[7] बन कर आवागमन के चक्कर से छूट कर वह निरबाणु पद[8] पाना है जो हरि के नाम में ही निहित है और मुक्ति[9] ही 'हरि भेटुला'[10] है। 'हरि से भेंट हो गई तो 'आठ पहर अपना खसम धिआवहु'[11] और 'राम रसाइन पीउरे दगरा'।[12] इस प्रकार भगवान से भेंट करके निरन्तर

(इस लेख में श्री गुरु ग्रंथ साहिब के देवनागरी संस्करण की पृष्ठ सख्या दी गई है।)

1 प 485 नाम, 3	2 पृ 988 नाम, 1
3 प 1164 नाम, 7	4 प 973 नाम 2
5 प 1292 नाम, 1	6 प 1195 नाम, 1
7 प 1105 नाम 1	8 प 1163 नाम, 1
9 प 1292 नाम, 2	10 प 486 नाम, 5
11 प 485 नाम, 3	12 प 486 नाम, 4

उनके ध्यान में लग कर राम रसायन पान का परिणाम तो एक ही है और वह है 'नामे नाराइन नाही भेदु'[1] भेद नहीं रहा, तो द्वैत मिट गया और 'नामा सार्गी समाइला'।[2] प्रत्येक साधक के अनेक पड़ाव हैं जो अपने आप में भी साध्य हैं, लेकिन अंतिम तथा पूर्ण साध्य तो एक मात्र वही है जिसके ये सब भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं, अतः यम से रक्षा, भव पार पहुंचना, आवागमन से बचना, मुक्ति पाना, अमर पद पर बैठ जाना, और अन्तर में निरंतर उसकी अनुभूति करते हुए ब्रह्म रसपान वहां पहुंच कर सब ब्रह्म के ऐक्य अथवा उसमें परिणति के साधन ही प्रतीत होते हैं। अतः साध्य तो एक वही है, जिसे प्रत्यक्ष सन्त ने अनुभव किया है।

साधन—

साध्य है 'नामे के सुआमी बीठुलो' और उसका मार्ग ऐसा है—

जिउ आकासैं पंखीअलो खोजु निरखिओ न जाई।

जिउ जल माझै माछली मारगु पेखणु न जाई॥[3]

कितनी सत्य अनुभूति है, भगवत्प्राप्ति का मार्ग आकाश में पंछी और जल में मछली के मार्ग से कुछ भी तो भिन्न नहीं। नामदेव भी ऐसे ही पथ का पथिक रहा था, इसी लिए उसे इस कठिनाई का भान था, तभी जीविका के लिए उसने समाधान प्रस्तुत किया है कि भगवत्प्राप्ति के लिए भगवत्कृपा ही सर्वोत्तम साधन है। नामदेव तो हरि-गुण गाता हुआ उससे प्रार्थना ही यह करता है कि 'कृपा करि जन अपुने ऊपर'[4] और भगवत्कृपा पाने के लिए उसको प्रसन्नता आवश्यक है।[5] वह प्रसन्न हो गया तो उसने स्वतः कुछ नहीं करना, केवल 'होइ दइआलु सतिगुरु मेलि तू मोकउ।'[6] क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान है कि सतगुरु ही भव पार पहुंचाएगा और उसे मिलाएगा क्योंकि जीव और ब्रह्म का वही तो एक-मात्र संयोजक स्थल है। सतगुरु का भी एक क्रम विशेष है जिससे वह साधक को साध्य तक ले जाता है। सबसे पहले 'गिआनु अंजनु मोकउ गुरि दीना'[7] और तब 'दुख बिसारि सुख अंतरि लीना' इस प्रकार गुरु ने मेरा जन्म सफल किया है।[8] इतना ही नहीं, संक्षेप में उसी ने 'भव से

1 पृ 1165 नाम 10
2 पृ 1351 नाम, 2
3 पृ 525 नाम 2
4 पृ 693 नाम, 1
5 पृ 1196 नाम, 1
6 पृ 1196 नाम 2
7 पृ 857 नाम, 1
8 पृ 857 नाम 1

पार उतारा।[1] 'द्वैत मिटाया'[2] तथा मनगु लगाइया,[3] मलग के दरसन कराए शीघ्र ही सतगुरु ने ऐसी 'बुधि सिखलाई जिससे 'नर त सुर होइ तिमन म।'[4] यम तो गुरु को देखते ही भाग गया।[5] इस प्रकार आवागमन के चक्कर से रक्षा कर 'सतिगुर से मिलाने वाला एक मात्र सतगुरु ही है।[6] गुरु की महिमा एवं नाम उसने एक ही शब्द में बताए हैं, जिसका कुछ भाग यहां उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता—

जउगुरदेउ त मिल मुरारि। जउ गुरदेउ त उतरै पारि॥
जउगुरदेव त बकुण्ड तरै। जउ गुरदेउ त जीवन मरै॥
सति सति सति सति सति सति गुरदेव।
झूठ झूठ झूठ झूठ ग्रान सभ सेव।
जउ गुरदेउ त नामु हढावै। जउ गुरदेउ न दहदिस धावै॥
जउ गुरदेउ पच ते दूरि। जउ गुरदेउ न मरिबो झुरि।
जउ गुरदेउ सभै बिखु मेवा। जउ गुरदेव त जम ते छूट॥
जउ गुरदेउ त भउजल तरै। जउ गुरदेउ त जनमि न मर।
बिनु गुरदेउ ग्रवर नही जाई नामदेउ गुर की सरणाई॥

नामदेव ने तो गुरु की शरण ले ली। गुरू भी नामदेव को नाम ही देता है, जिससे वह 'नाम' को ही अपना आराध्य 'देव' मान कर अपना नाम सार्थक करे। भक्त नामदेव से अधिक महत्त्व 'नाम' का ही है, क्योंकि नाम ने ही उसे नामदेव बनाया है।

'इकु नामु निसतार'[7] गुरू ने नामदेव को नाम देकर यह गुरु मंत्र भी बता दिया, इसलिए 'नामे चितु लाईआ सचि नाइ।[8] अब तो उसे नाम के बिना बतीसो लक्षणो से युक्त सौंदर्य भी नही भाता'[9] और वह रात दिन नाम का जाप करता रहता है तथा अनुभव करता है कि 'राम नाम बिनु घरीअ न जीवन[10] यह नाम ही मैं अमुले की टेक[11] बन चुका है, इतना ही नहीं दीन नामदेव ने तो यहां तक कहा है मैं गरीब मैं मसकीन तेरा नामु है अधारा।[12] इस प्रकार

---

1 पृ 1164 नाम, 5
2 पृ 116 नाम 7
3 पृ 874 नाम 4
4 प 874 नाम, 2
5 पृ 1105 नाम, 5
6 प 486 नाम, 5
7 प 1164 नाम, 5
8 प 1164 नाम, 7
9 प 1163 नाम, 2
10 पृ 485 नाम, 3
11 पृ 727 नाम, 2
12 प 657 नाम, 3

उमने तो 'मुख मनसा रतनु परोइम्रा'[1] और जीभ का सतक कर दिया—

रे जिह्वा करउ मत खड । नामि न उचरसि स्री गोबिन्द ।
रगीले जिह्वा हरि मैं नाइ । सुरग रगीले हरि हरि धिम्राइ ॥

क्योंकि—

'मिथिम्रा जिह्वा अवरे काम । निरवाण पदु इकु हरि का नामु ।।[2]

स्वत तो नामदव न नाम को अपना लिया अब दूसरों को भी समझान लगे कि बाह्य आडम्बर आदि पाखण्ड त्याग कर 'हरि का नामु नित नितहि लीज[3] क्योंकि—'कउन को कलकु रहिम्रो रामनामु लेत ही ।' इतना ही नहीं, सब पतित पवित भए रामु कहत ही ।[4]

इससे भी बढ कर नाम से ही 'मिटे सभि भरमा' तथा इसने ही 'जाति कुल हरी ।'[5] तथा पतित से पतित भक्तो को भी पवित्र बना कर भव से पार पहुचा दिया । अजामिल, गणिका आदि इसके साक्षी हैं ।[6] इसलिए तक एव वाद विवाद को छोड कर 'रसना राम रसाइनु पीजैं ।[7] मूढ जनता उसकी बात नही समझती, तो स्वत नाम के अनुभूत महत्व की झलक दिखाकर ललचाता है कि इस नाम से न केवल 'नरत सुर होइ निमख मैं,' अपितु—नरते उपजि सुरग कोउ जीतिम्रो सो अवखध मैं पाई ।[8] इतना समझने पर जो नाम का महत्त्व न समझ कर उसे अपनाते नहीं, नामदेव उन्ह कहता है कि—'जो न भजते नाराइणा । तिनका मैं न करउ दरसना[9] तथा तेरे नाम अतिलबि बहुतु जन उधरे नामे की निज मति एह ।[10]

वस्तुत भगवान् में आरोपित गुण ही नाम है, तथा ऐसे गुणो का निरन्तर नाम ही जप और ऐसे जप का आतरिक ध्यान ही सिमरन है ।

नाम का जप आवश्यक है क्योंकि 'जपत मैं अपदा टरि[11] इसीलिए रात दिन नाम जपने का सदेश दिया गया है ।[12] जप से भी बढ कर उसका अतर म ही सिमरन करना चाहिए क्याकि सिमरन से ही गोबिन्द को जाना जा सकता है ।

---

1 पृ 657 नाम 3
2 पृ 1163 नाम, 1
3 प 973 नाम 4
4 पृ 718 नाम, 2
5 पृ 874 नाम, 5
6 पृ 1164 नाम, 4
7 पृ 874 नाम, 3
8 प 1163 नाम, 2
9 पृ 485 नाम 3
10 पृ 973 नाम, 4
11 पृ 874 नाम, 3

भत बाह्य बाडम्बर पूर्ण धर्म-कर्म को तथा पूजा विधि को छोड़ कर 'सिमरि सिमरि गोविंद' कहता हुआ नामदेव तो उसके सिमरन में ही खो गया।

मृत्यु मानव मात्र में एक अज्ञात शक्ति के प्रति भय उत्पन्न कर देती है। उस भय से अपनी रक्षा के लिए जीव उसमें अपना विश्वास लाता है, तथा धीरे-धीरे उसे प्यार करने लगता है। जीव का यह भगवत्प्रेम ही भक्ति में परिणत हो जाता है, क्योंकि सा परानुरक्तिरीश्वरे[1] अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है और 'भगति करहि जा जन तिन भउ सगल चुकाईऐ'[2] इसलिए नामदेव तो उससे 'भगति दानु दीजै'[3] कह कर ही अपनी अभिलाषा प्रकट करता है तथा भक्ति मिल जाने पर वह उसे किसी भी अवस्था में छोड़ने को तयार नहीं, चाहे संसार उसकी हंसी क्यों न उड़ाता रहे।[4]

उसकी भक्ति का आवश्यक गुण है, अनन्यता। केवल एक-मात्र सत्य ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि अन्यान्य देवी-देवताओं की उपासना करने वाले को वेश्या बताया है। जैसे उसका सम्पूर्ण रूप शृंगार बेकार है, उसी प्रकार केवल एक ही ब्रह्म की उपासना न करने वाली आत्मा 'भरतारु छाडि अवरहि गाइ। पति भगवान से न मिल कर विषयगामी हो जाती है।[5] अनन्यता के इस अभाव के दुष्परिणामों का भी सविस्तार वर्णन किया है। भैरव के पुजारी भूत बनते हैं तथा शीतला के पुजारी गधे की सवारी करते हुए धूल उड़ाते हैं। शिव का नाम लेने वाले बैल पर चढ़ कर डमरू बजाते हैं तथा जो महा माई की पूजा करें। नरसे नारि होइ अउतरै।[6] और भवानी से नामदेव पूछते हैं मेरी रक्षा करने के समय तू कहां गई थी।[7] कितना मधुर उपालम्भ है और अन्य देवी-देवताओं के पुजारियों के मुंह पर करारी चपत। इसलिए 'राम छोडि चितु अनत न फरउ।[8] इस प्रकार भक्ति मे अनन्यता के साथ-साथ उसका अनवरत प्रवाह भी आवश्यक है। उसके मन ने आलस्य किया और नामदेव ने झट से चेताया अपने रामहि भज रे मन आलसीआ।[9] इसलिए यह नाम तो 'नित नितहि लीजै।[10] भगवान का नाम तो लेते रहे, ध्यान भी करते रहे,

1 शाण्डिल्य भक्ति सूत्र 1, 1, 1
2 पृ 673 नाम, 2
3 पृ 1292 नाम 1
4 पृ 1195 नाम, 1
5 पृ 1165 नाम, 2
6 पृ 874 नाम, 2
7 पृ 874 नाम, 2
8 पृ 873 नाम 2
9 पृ 873 नाम, 1
10 पृ 973 नाम, 4

लेकिन उदासीन भाव से नहीं। उसके लिए भी एक ललक चाहिए, तड़पन चाहिए हृदय के अन्तरतम से। भक्त में जब तक उसे पाने के लिए तड़पन न होगी, उसकी भक्ति में शक्ति न आएगी। नामदेव की भक्ति का प्रधानतम अंग है नाम और उसकी भक्ति है एक मात्र सत्य ब्रह्म के अनन्य भजन एवं उसकी अनवरत तड़पन में।

तेरा नामु रुडो रुपु रुडो अति रंगरुडो मेरो रामईआ।'[1]

किसी के प्रति तड़पन उत्पन्न हो, उसके लिए आवश्यक है कि प्राणी उस पर मोहित हो। मोहित भी किसी के रूप, गुण व काय पर हुआ जा सकता है। नामदेव तो उपासक के नाम, गुण, रूप, रंग सभी पर मोहित है, अतः उसमें उसके लिए तड़पन पैदा हो चुकी है। वह तड़पन कैसी है और कितनी तीव्र है, इसकी अभिव्यक्ति में तीव्र तड़पन का कोई भी लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करने में वह चूक गया हो, ऐसी बात नहीं। संतों की वाणियों में काव्यत्व का अभाव तथा एक ही विषय की पुनरावृत्ति से ऊबने वालों को इन शब्दों में मनचाही सरसता और उनकी बहुलता, सूक्ष्मेक्षिता के साथ-साथ शैली में कला का सजा सँवरा हुआ रूप भी मिल सकेगा। प्रयुक्त उपमाएँ और रूपक उनकी मौलिक अनुपम प्रतिभा के परिचायक हैं।

'मारवाडि जैसे नीरू बालहा बेलि बालहा करहला।
जिउ कुरक निसि नाद बालहा तिउ मेरै मनि रमाईआ।[2]

इतना ही नहीं, उसकी तड़पन वैसी ही है जैसी भँवरे को 'कुसुम बासु' की, 'कोकिल कउ अंबु' की, 'चकवी कउ सूरु' की, 'मानसरोवर हंसुला' 'तरणी कउ कंतु' की, 'बालक कउ खीरू की' 'चातक मुख जैसे जलधरा' की तथा 'मछुली कउ जैसे नीरू बालहा तिउ मेरै मनि रामईआ।[3] यह उदाहरण तो प्रकृति के विशाल प्रांगण से एकत्रित किए हैं। मानव मन की विविध अवस्थाओं के तड़पन के चित्र भी अंकित किए हैं 'जैसे भूखे प्रीति अनाज। तृखावंत जल सेती काज।[4] तथा 'जैसी पर पुरखा रत नारी। लोभी नरू धन का हितकारी। कामी पुरुष कामिनी पिआरी। ऐसी नामे प्रीति मुरारी।[5] तथा बालक और माता का निष्काम एवं निष्कारण स्नेह नामदेव ने अपने भगवान से कर लिया

---

1 पृ 693 नाम 3
2 पृ 693 नाम 4
3 पृ 693 नाम, 3
4 पृ 1164 नाम 1
5 पृ 1164 नाम, 1

है, क्योंकि उसे अनुभव हो चुका कि 'गोबिन्दु बसै हमारै चीति।'[1]

नाम के लिए नामदेव म ऐसी तडपन थी, अब उसम ध्यान लग गया है, तो ध्यान म भी कितनी एकाग्रता चाहिए, यह भी दर्शनीय है—'नाद भ्रमे जैसे मिरगाए। प्रान तजे वाको धिआनु न जाए। एसे रामा ऐसे हेरउ। राम छोडी चितु अनत न फेरउ।'[2] मृग बचारा तो नाद की मस्ती म प्राण ही दे देता है, जसे मछुए का मछली म सुनार का घडे जाने वाले सोने म, तथा जुआरी का कौडी म ध्यान रहता है, उसी प्रकार की एकाग्रता चाहिए जीव म नाम की।[3] इससे बढ कर जसे अन्य लोगो से बात करते हुए पतग उडाने वाले बच्चे का ध्यान डोरी मं, हसते खेलते चली आती हुई पनिहारिन का ध्यान गागर म तथा दूर चरती हुई गाय का ध्यान बछडे म ही रहता है[4] उसी प्रकार—

> कहत नामदेउ सुनहु तिलोचन बालकु पालन पउढीअले
> अंतरि बाहरि काज बिरुधी चीतु सु बारिक राखी अले ॥[5]

काम म सलग्न मा का ध्यान बच्चे म तथा कार्य करते हुए भी नामदेव का ध्यान नाम म ही है। बछड बिना गाय तथा जल बिना मछली जैसे तडपती है, वसे ही नाम बिना नामदेव[6]।

'सुइने की सूई रूपे का धागा। नामे का चितु हरि सउ लागा।'[7] नामदेव ने नाम की सुई तथा जाप (भक्ति) के धागे से अपने चित्त को हरि से सीकर जोड दिया है।

यही है 'भक्तो के भक्त' की भक्ति और नामदेव का नाम, उसकी अनन्यता, तल्लीनता और तडपन।

इस भक्ति मे 'अह विगलित कर—पूर्ण आत्मसमर्पण कर भगवान से प्रार्थना करने का विशेष महत्त्व है। क्षणिक देह[7] एव नश्वर ससार[8] का बोध कराते हुए नामदेव ने बार बार जीव को 'अह' त्याग कर अपने आप को भगवान् की शरण मे पूर्णतया सौंप देने का क्रियात्मक सन्देश दिया है। सतो की महानता उनकी 'कथनी और करनी की एकता मे ही निहित है। 'काहे रे नर गरबु

1 प 1164 नाम, 1
2 पृ 873 नाम, 2
3 प 873 नाम 2
4 पृ 972 नाम, 1
5 प 874 नाम 4
6 प 485 नाम, 2
7 प 692 नाम, 1
8 पृ 693 नाम, 1

करत हहु बिनसि जाइ झूठी देही। मेरी मेरी कैरउ करते दुरजोधन से भाई।'[1] तथा सरव सोइन की लका होती रावन से अधिकाई।[2] अत नामदेव ने तो क्षणिक देह, तथा क्षण भगुर ससार को जान कर अह को गला कर बीठलु से प्रार्थना की थी, 'मोकउ तारि ले रामा तारि ले। मैं अजानु जनु तरिबे न जानउ बाप बिठला बाह दे।[3]

तैरना तो जानता ही नही, अत कहीं ससार समुद्र म न छोड देना—'मोकउ तू न बिसारी तू न बिसारी। तू न बिसारी रमाईआ।[4]

यह है आत्मसमर्पण की चरमावस्था तथा विनीत नामदेव की दीनतम प्रार्थना।

बिना मन को वश म किए 'आठ पहर अपना खसम धिआवहु[5] व्यर्थ है, जिस प्रकार बगुले का ध्यान मछली की ओर ही रहता है, वैसे ही मन का ध्यान विषयो का ओर रहता है, उधर से हटाकर इसे नाम में एकाग्र करने पर ही उचित ध्यान हो सकता है, जो भगवत्प्राप्ति का एक साधन है।[6]

मन का वश म करने के लिए सत्सगति का विशेष महत्त्व है। जीव का साध की सगति स ही, 'भगतु भगतु भगतु ताको नाम परिओ[7] है। इतना ही नही, उसके तो दरसन निमख ताप त्रई मोचन'[8] और अगर कही स्पर्श हो जाए, तब तो भक्ति ही प्राप्त हा जाती है।[9] सत्सगति से ही दुष्कम एव दुगु णो का त्याग तथा सत्कर्मो को प्रश्रय मिलता है, य सत्कम ही सत्सस्कारो को ज म देते हैं और वे सस्कार गुरु कृपा प्राप्त करने का अधिकारी बना सासरिक जीव को भक्त की श्रेणी मे ला बिठाते हैं।

'लोभ लहरि अति नीझर बाजै काइआ डूब करै।[10] तथा काम क्रोध तृसना अतिजर।' क्योंकि 'साध सगति कबहू नही करै।[11] अत दुगु ण त्याग कर सत्कम करने चाहिए। क्योंकि 'भगति नामदेउ सुमति गए'[12] और तब सत्कम करने कौन सुमति बैकुण्ठ नही गया। अत भगवत्प्राप्ति मे सत्कम का भी विशेष महत्त्व है। सतो का जीवन तो इस बात का प्रमाण रहा है कि इन सत्कर्मो के

---

1 प 692 नाम 1
2 प 693 नाम 1
3 प 873 नाम 3
4 प 1292 नाम, 2
5 प 485 नाम, 3
6 प 485 नाम 4
7 प 1105 नाम, 1
8—9 पृ 1252 नाम, 3
10 पृ 1196 नाम, 2
11 पृ 1252 नाम, 1
12 2 पृ 718 नाम, 2

साथ साथ उन्होंने निष्काम होते हुए भी सकाम्य जीवन व्यतीत किया है। इस नामदेव ने कहा है कि 'सीवनि सावउ सीवनि सीवउ। राम नाम बिनु घरीम न जीवहु।'[1] रगाई और सिलाई का काम शरीर से तथा भगवान् का नाम लेने का काम मन से करता हूं क्योंकि उसके बिना तो क्षण भर भी नहीं जीवित रह सकता। कबीर ने भी नामदेव, त्रिलोचन के एवं सधना का अपने श्लोकों में स्थान दिया है।[2]

भगवान की सच्ची भक्ति ही उसकी सेवा है। नामदेव ने इस बात को भी नहीं भुलाया तथा बाह्य आडम्बरों पूजा, सेवा आदि का सर्वत्र ही खण्डन किया है।

यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि भक्त्या व भक्त' नामन्द को भक्ति ज्ञान का सम्बल लेकर ही आगे बढ़ी है। ज्ञान के भ्रम में फिरने वाले पण्डित और मुल्ला को सजग करते हुए उन्होंने कहा है कि— हिन्दू अन्हा तुरकू काणा। दुहा ते गिआनी सिआणा।[3] यह गिआनी वही है जो मन्दिर और मस्जिद में न जाकर भी निराकार का उपासक है। अन्यत्र कहा है, जो आत्मा परमात्मा में भेद समझ हुए हैं 'जसे पसु हँसे ओढ़ नरा'[4] अत समुचित ज्ञान को भी भगवत्प्राप्ति में सहायक माना है।

कबीर तो अपने पहले जीवन में योगी रहे ही थे सभी योग का इतना विशद् और सूक्ष्म परिचय उनके शब्दों में मिलता है। रविदास सम्भवत योग से अपरिचित ही रहे, कम से कम 'ग्रंथ' में योग से सम्बन्धित उनका कोई पद प्राप्त नहीं। नाम देव के 61 पदों में भी केवल 3 में योग का वर्णन मिलता है, जिनमें उन्होंने योग का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसे ही ब्रह्मानुभूति में सहायक माना है।

नाद के कारण जहां अन्तर में दिशाएं झलमला रही हैं, 'तह अनहद सबद बजता' और 'जोती जोत समानी।'[5] तथा जह अनहत सूर उज्यारा। तह दीपक जले छछारा' और नामा सहज समानिआ।[6] इतना ही नहीं, 'बिनु सावण घनहरु गाजै। बादल बिन बरखा होई। जउ ततु बिचारै कोई।'[7] कबीर से पहले उनके

---

1 पृ 485 नाम 3
2 पृ 1375 कबीर, 212, 213
3 पृ 875 नाम, 7
4 पृ 1163 नाम, 2
5 पृ 657 नाम, 1
6 पृ 657 नाम, 1
7 पृ 657 नाम, 3

ग्रन्थ से यही ज्ञात होता है कि उनका भी योग से अच्छा परिचय था, सम्भवत जीवन के मोड पर उन्होंने भी योग को किसी रूप में अपनाया हो। जो हो, इस योग के द्वारा ही 'नामें ततु पछनिआ[1] म कुछ सार अवश्य है। अन्यत्र न केवल अखड मडल निरकार महि अनहद बेनु बजाउगा,' इसका ही वर्णन है अपितु 'इडा पिगुला अउरु सुखमना पउनै बधि रहाउगा। चदु सूरजु दुई समकरि राखउ ब्रह्म जोति मिलि जाउगो।[2] इतना ही नहीं, अडसठ तीर्थ उसकी देह मे ही हैं तथा हरि म चित्त लगा कर वह 'सुन समाधि समाउगा।[3] इस प्रकार ब्रह्म-तत्व की पहचान व शून्य समाधि में समाने के लिए योग भी उपयोगी है।

नामदेव की भक्ति को यदि एक वाक्य मे आबद्ध करना चाहें, तो लिख सकते हैं—

'सुसंस्कारो के कारण भगवत्कृपा से प्राप्त सद्गुरु न नाम के माध्यम से जो अनन्य भक्ति दी, 'अहं' एव सासारिकता को त्याग कर निरन्तर उसमे तल्लीन हो ब्रह्म रसपान ही भगवत्मिलन व एकत्वानुभूति है। इसी म नामदेव के नाम की सार्थकता और जीवन की सफलता है, जिसे उनक 'नाम की चेतना' ने अमर कर दिया है।

● ● ●

1 पृ 657 नाम 3
2 पृ 972 नाम, 1
3 पृ 972 नाम, 1

• • • गुरु नानक की सामाजिक देन

विश्व की महान् विभूतियाँ कालप्रसूत होती हैं। सच में इस कथन में ऐसा विश्वजनीन एवं सर्वकालीन सत्य छिपा है जिसका महान् पुरुषों के जीवन में अनायास ही मणि-कांचन संयोग देखने को मिलता है क्योंकि ये ही दो गुण उनके व्यक्तित्व की गरिमा की कसौटी बने हुए हैं।

जिन परिस्थितियों में गुरु नानक आविर्भूत हुए थे, वे विलक्षण थीं। पूर्ववर्ती सन्तों ने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अपने निजात्मक जीवन तथा सन्तमत साहित्य के माध्यम से ऐसा आलोड़न विलोड़न किया हुआ था जिसमें गुरु नानक जैसे नवनीत का उद्भव स्वाभाविक ही था।

राजनैतिक अत्याचारों से प्रताड़ित जनता न केवल अपना धार्मिक विश्वास, जातीय गौरव, सामाजिक स्थिरता एवं आर्थिक शक्ति ही खो चुकी थी, अपितु वैयक्तिक नैतिक बल का भी सम्बल उसके पास न रह गया था। ऐसी अवस्था में देश, समाज और धर्म की बात तो दूर रही, व परिवार पालन तथा वैयक्तिक मूल्यों को जीवित रखने में भी अपने आपको अक्षम पाते थे। इस का कारण स्पष्ट है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदारतम दृष्टिकोण लेकर चलने वाली भारतीय संस्कृति, जो एक युग से चले आने वाले सभी आक्रमणकारियों के आचारों विचारों, रीति रिवाजों को अपने अनुकूल बनाकर उन्हें भी अपना अंग बना लेती थी—इस समय एक बार मुसलमान बादशाहों की विजय से नहीं, इस्लाम के धार्मिक प्रहार से, दीन के प्रसार से संक्षुब्ध हो उठी, क्योंकि उसकी विशृंखलित शक्ति दीन के इस तूफान को न सह सकी। ये मुसलमान जिन्होंने भारत

की भूमि को पैरों तले रौंदा था और अब उस पर विजय पा उसे अपनी जायदाद ही नहीं—दायाद्य भी समझने लगे थे, जिन्होंने शस्त्रों द्वारा उसके शरीर पर आधिपत्य जमा लिया था और अब अपने मजहब द्वारा उसके धर्म का हडप कर लेना चाहते थे, अपनी विजयिनी पाशविक शक्ति के आवेग में प्रतिद्वन्द्वियों की नैतिक शक्ति को न पहचान सके थे।

इस प्रकार राजनैतिक शक्ति का आश्रय पा जिन विदेशी शासकों ने इस्लाम की संकीर्ण धार्मिकता एवं सामूहिक साम्प्रदायिकता के माध्यम से भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक मूल्यों को विशृंखलित कर दिया था, समाज में एक बार फिर उनका उन्नयन करने वाले मध्य-कालीन-संत ही थे। भारतीय धर्म से पराङ्-मुख होती हुई जनता को उन्होंने न केवल धार्मिक-सामाजिक क्रियात्मक वैयक्तिक नैतिक बल का सम्बल दिया, अपितु अपने धार्मिक-सामाजिक क्रियात्मक जीवन से उखडते हुए मूल्यों को एक बार फिर स्थापित रखने का प्रयत्न भी किया। यही कारण है कि मध्य-युगीन संत भारतीय जन मन के सम्राट बने रहे और समाज को उनकी देन अविस्मरणीय हो गयी।

कबीर आदि पूर्ववर्ती संतों की विचारधारा को अपनाते हुए भी गुरु नानक की अभिव्यक्ति में इतनी शक्ति है कि उसने न केवल उसे मौलिकता ही प्रदान की, अपितु वृहत्तर समाज को विशेष रूप से प्रभावित भी किया। नामदेव बड़े भक्त हुए हैं, अतः सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन की ओर वे विशेष ध्यान न दे सके, हाँ! धार्मिकों को भक्ति-परायण बनाने में उनका विशेष सहयोग रहा। रैदास की पदावली में गिडगिडाहट अधिक थी और दृढ़ता कम। सम्भवतः इसलिए सामाजिकों ने उसकी ओर इतना ध्यान नहीं दिया। अक्खड एवं उद्दण्ड कबीर कटु एवं तीव्र प्रहारक भी थे। अपनी विद्रोहिणी प्रकृति से उन्होंने न केवल जन-समाज का ध्यान ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था परंतु उन्हें इस दिशा में विचारने पर विवश भी कर दिया था? बाह्याडम्बरों एवं आवरणों के विरोध की उनकी प्रकृति को जनता ने एकदम अपनाया तो नहीं पर उससे चमत्कृत एवं सतर्क अवश्य हो गए। परिणामस्वरूप उचित समय पर गुरु नानकदेव आविर्भूत हुए। उन्होंने नामदेव की भक्ति को अपनाया पर सामाजिकता का त्याग करके नहीं। रैदास की विनियता को अपनाने में सम्भवतः उनकी सफलता का सबसे बड़ा रहस्य छिपा है लेकिन आत्म विश्वास एवं दृढ़ता पूर्वक उन्होंने समाज में उसका प्रसार किया। कबीर की कटुता, उग्रता एवं प्रहारक प्रकृति का त्याग करके भी उन्होंने समाज को लगभग वही संदेश दिया और उसका

न केवल ब्रह्म का विचार करने वाला अपितु स्वत ससार सागर से पार पहुचने वाला और जन समाज को भी पार पहुचाने वाला ही सच्चा ब्राह्मण है। इस प्रकार गुरु नानक की उदार दृष्टि एव व्यापक विचार धारा का परिचय मिलता है। यहाँ कहीं भी उन्होने जाति, धम या साम्प्रदायिकता के कटघरे में अपने को बाँधे रखने का प्रयत्न नही किया, और व्यापक मानवता का ही प्रसार किया है।

आर्थिक विषमता भी उस युग के समाज को बहुतायत से विशृखलित किए हुए थी। अय सतो की तरह गुरु नानक ने न केवल इसका विरोध किया, अपितु मानव-मानव की समता म अथ को कोई स्थान नही दिया।

राजसी ठाठ-बाट से रहने वाले मलिक भागो के पक्वान पूण भोजन को अस्वीकार करके उहोंने अपने परिश्रम से अजित करने वाले भाई लालो के साद भोजन को अपना कर कई सदेश दिए। आर्थिक विषमता के कारण धन की दृष्टि से समद्ध मानव की अपक्षा उहोने निधन को अपनाने का प्रयत्न किया। इसका दूसरा महत्व पूण पहलू भी है। देशधारी अकमण्य पागा साधुआ से समाज भरा हुआ था। सभी सता ने कमण्य जीवन जी कर अकमण्यता का परिहार करने का प्रयत्न किया था। नामदेव कपडे छापता व सीता था। रैदास जूतिया गाठता था। कबीर जीवन-भर कपडा बुनता रहा। स्वत गुरु नानक भी तो मोदी-खाने म तालने का काय करते थे। इस प्रकार समाज पर भार बने हुए तथा कथित योगियो का सभी ने जी भर कर विरोध किया था। अपने परिश्रम से अजित सादे भोजन को अपनाकर गुरु नानक ने जहा अकमण्यता का विरोध कर कमण्यता का महत्त्व प्रतिपादित किया, वहा सच्चाई और ईमानदारी से आजीविका अर्जित करने का भी सदेश दिया। गुरु नानक जीवन भर किसी भी अथ वान के सामन झुके नही, जिससे यह पता चलता हो कि उहोने अथ को अपने व्यक्तित्व से अधिक महत्त्वपूण ससभा हो, अपितु अपने नैतिक मूल्यो क लिए अथ का त्याग करने म वे कभी नही झिझके। मोदीखाने से नौकरी छोडने का उन्हें कोई दुख नहीं हुआ, अपितु प्रसन्नता ही हुई। चाहे इससे उह अपने परिवार के सदस्यों का कोप-भाजन भी बनना पडा।

कम और व्यवसाय की दृष्टि से भी उहांने मानव-मानव मे किसी भेद को स्वीकार नही किया। उनकी दृष्टि म वही मानव श्रेष्ठ व महान् है, जिसने अपने अदर मानवीय गुणो का विकास कर लिया है। धम, अथ, कम, जाति, प्रदश रूप रग आदि किसी भी आधार पर उहोने मानव मानव की एकता और

ममता व स्वर म समाज का निनाम्नि कर लिया।

इतना ही नहीं, शासक-वग के राजनैतिक प्रमुख की चिन्ता किए बिना ही उन्होंने अत्याचारी शासकों का विरोध कर निरपराध प्रताडित जनता एव शासित-वग का साथ दिया। उनके स्वर म नतिक बल था—

'खुरासान खसमाना कीआ हिंदुसतानु डराइआ।
आपै दोस न देई करता जमु करि मुगल चडाइआ॥
एती मार पई कुरलाण तैं की दरदु न आइआ॥
(राग आसा म 1, स 39)

आक्रमणकारियों के अत्याचारों म पिसती जनता को देखकर क्या भगवान भी नहीं पसीज पाता? गुरु नानक अवश्य पसीज गए थे और इसीलिए मानव की मानवता का उन्हें सदा ध्यान बना रहा, चाहे वह मानव किसी भी धम, जाति पद या स्तर का क्यों न हो?

गुरु नानक की अन्य महत्वपूर्ण देन है समाज म गृहस्थ-जीवन का सम्मान्य स्थान एव नारी का महत्व। सिद्धो, नाथो एव योगियों की गुह्य तांत्रिक साधनाओं क कारण समाज म जो विकार उत्पन्न हुए थ, उनके कारण नारी अपना महत्व खो चुकी थी। नारी को वासना पूर्ति का साधन मात्र समझने वाले विदेशी आक्रमणकारियों को भी संतों और गुरु नानक ने सतक किया था। इस प्रकार समाज म नारी-गृहिणी का गौरवशाली पद खो चुकी थी। सभी संतो ने स्वाभाविक गृहस्थ जीवन व्यतीत करके समाज म नारी क गौरव को पुन प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है—

'जिन सिरि सोहनि पटीआ मांगी पाइ संधूर।
से सिर काती मुंनीअन्हि गल विचि आवै धूड़।
महला अंदरि होदीआ हुणि बहणि न मिलन्हि हदूरि।

सुन्दर ढंग से सजाई हुई मांग में जहाँ सिन्दूर था अब उस केश राशि को काट दिया गया है और धूल बाला म ही नहीं, गले तक आ पहुँची है। जो स्त्रियाँ महलों म रहती थीं उन्हें अब बाहर बठने के लिए भी स्थान नहीं मिलता। एक ओर अत्याचारी मुगल विदेशियों और दूसरी ओर तथाकथित योगियों क मध्य पिसती हुई नारी को संतों एव गुरु नानक का सम्बल मिला तभी वह समाज म उचित सम्मान एव स्थान की अधिकारिणी बन सकी। अन्य संतों की तरह उन्होंने भी नारी को अपनाया। सहज स्वाभाविक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया पर उसम एकदम लिप्त नहीं हुए। उन्होंने निवृत्ति पर आधारित प्रवृत्ति

का क्रियात्मक सदेश दिया। यह उनके जीवन का अद्‌भुत सतुलन था। इस प्रकार गहिणी के रूप मे स्वस्थ-समाज के निर्माण करने का उत्तरदायित्व उसने ग्रहण किया और गौरव-शालिनी मा बन कर पूणतया निवाहा। नारी को समाज म समादत स्थान प्राप्त हुआ। वह पुरुष की सहयोगिनी बन गई और उसका अपना स्थान भी अक्षुण्ण बना रहा। गहस्थ-जीवन का आदर्शीकरण करके गुरु जी ने स्वस्थ सामाजिक जीवन का पुनरुद्धार करने का सफल प्रयास किया। इन न दो म उन्होने नारी का महत्त्व स्पष्ट किया है—

भडि जमीग्रै भडि निमीग्रै भण्ड मगण वीग्राहु।
भडहु होवै दोसती भडहु चलै राहु।
भड मुग्रा भड भालीग्रै भड होवै बधान।
सो किउ मन्दा ग्राखीग्रहि जित जम राजान॥
(राग ग्रासा की वार, म 1 सलोक 41)

जन्म देने वाली भी नारी और पत्नी के रूप म सहधर्मिणी भी नारी ही है अत उसे निम्न क्यो कर कहा जावे? इस प्रकार गुरु नानक ने नारी का महत्त्व स्थापित करते हुए उसे समाज मे उचित स्थान की अधिकारिणी बनाया।

सभी धर्मों और सम्प्रदाया के बाह्याडम्बरो का सहज रूप मे दृढता पूवक विरोध करना गुरु नानक की अन्य महान् सामाजिक देन है। पववर्ती सतो न भी ऐसा ही किया, लेकिन कबीर की कटुता और प्रहारक वत्ति ने जन समाज को चमत्कत अधिक किया और उसकी सवेदना कम पाई। गुरु नानक ने पूव म पितरो का तपण करने वालो को, पश्चिम मे अपने खेतो को जल दने का अभिनय करके, व्यावहारिक जीवन मे प्रभोवोत्पादक ढग से क्रियात्मक सदेश दिया। उन की पद्धति मे मधुर व्यग्य, विनयिता, समझ और सहज आत्मीयता थी। द्वेष और वर उन्हें छू भी न गया था, इसलिए बडे व्यापक धरातल पर जन समाज ने उन के सदेश को अपनाना आरम्भ कर दिया।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि राजनतिक अत्याचारा से प्रताडित अत भय-सत्रस्त जन-समाज को अपने नतिक बल स उन्हाने निभय बनाने का प्रयत्न किया। इस्लाम के धार्मिक प्रहार से क्षुब्ध एव धम-परिवतन म सलग्न जन-समाज का उन्होंने धार्मिक-सरक्षण प्रदान किया और व्यापक तथा उदार धम का सदेश दिया। जातिगत कटटरता एव धार्मिक साम्प्रदायिकता म फसी जनता को इस सकीणता से ऊपर उठाकर मानवता का पाठ पढाया। इतना ही नहीं धार्मिक बाह्याडम्बरो में उलझे हुए समाज को भाव का महत्त्व बता कर सुलझान

की चेष्टा की। समाज में गर्हित एवं अनादृत नारी को गौरवशाली एवं समादृत बनाया। गृहस्थ में अविश्वासी योगियों को गृहस्थ का महत्त्व बताकर समाज में गृहस्थ-जीवन की प्रतिष्ठा स्थापित की। आर्थिक समृद्धि को सामाजिक गरिमा का प्रतीक न बता कर स्वतः श्रम से अर्जित धन का महत्त्व बताया। सच्चाई और ईमानदारी की कमाई को ही उचित ठहराया। इस प्रकार न केवल अकर्मण्य समाज को कर्मण्यता का पाठ पढ़ाया, अपितु औचित्यपूर्ण श्रम से अर्जन का भी महत्त्व स्थापित किया। समाज में सभी दृष्टियों से फैली विशृंखलता को अपने नैतिक बल से दूर करने का प्रयत्न किया। धर्म, अर्थ, कर्म, जाति, सम्प्रदाय, प्रदेश, भेष आदि अन्याय्य आधारों पर किए गए मानव के भेद को दूर कर समाज में मानव-मानव एकता और समता का स्वर निनादित किया। इस प्रकार 'कथनी और करनी में ऐक्य' के मसाले से समाज के जीवन और धर्म के बीच की खाई पाट दी थी। यही कारण है कि उस समय के भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया, जिसके कारण पतनोन्मुख समाज एक बार फिर उठ खड़ा हुआ। इसलिए गुरु नानक की अन्तर-दृष्टि एवं सामाजिक देन को अद्भुत एवं अनुपम कहा जा सकता है।

● ● ●

• • • 'कबीर का ब्रह्म'

'कबीर सात समुदहि मसि करउ,
कलम करउ बनराइ ।
बसुधा कागदु जउ करउ,
हरि जसु लिखनु न जाइ ॥

ब्रह्म का माहात्म्य तो इतने से ही स्पष्ट है कि उसका गुणान्वित करने के लिए अनपढ़ कबीर को भी 'वसुधा कागदु' तथा 'सात समुदहि मसि' की सामग्री अत्यल्प ही प्रतीत हुई फिर वह हरिगुण कैसे लिख सकता था ? कबीर तो जीव ही था 'सनक' 'सनन्दन' आदि भी उसका गुणगान करते हैं लेकिन वे अनन्त के अनन्त माहात्म्य का अन्त कहाँ। न केवल सुरपति, नरपति उसकी महिमा का कहने में असमर्थ हैं, अपितु चारों वेद, स्मृति तथा पुराण भी इसके महत्त्व का बखान करने में अशक्त हैं। नारद और शारदा उसकी सेवा में उपस्थित हैं और ब्रह्मपत्नी कमला तो दासी ही बनी बैठी है, लेकिन उसका गौरव नारी की सीमाओं से भी परे है।

औरों की तो बात ही दूर रही, स्वयं ब्रह्मा भी ब्रह्म को न जान सका। अगणित चन्द्र तथा सूर्य जहाँ दीपक का कार्य करते हुए प्रकाश करते हैं असंख्य यमराज जिसके प्रहरी हैं और देवताओं की तो बात ही क्या—उनके भी राजा 'इन्द्रकोटि जा के सेवा करहिं' ऐसे ब्रह्म के माहात्म्य का क्या कभी बखान हो सकता है ?—मानव की कल्पना से दूर की बात है।

न केवल अरूप तथा उसके रूप की कल्पना ही महान् है अपितु उसकी कर्तृत्व शक्ति का ज्ञान भी मानव मन की सीमाओं में आबद्ध नहीं हो सकता। वह जब चाहे हँसते को रुला देता है और रोते का हँसा देता है। जल से थल

मे नहीं आता वह अयोनि भी है, इसीलिये वह अनायास ही अमर भी है। वह न केवल 'अगम' और अगोचर है अपितु अलक्ष्य व अतर भी है, उसे लाँघ कर आगे बढने की बात तो दूर रही, उस तक पहुँचना भी असम्भव नहीं, तो अति कठिन अवश्य है। अन्तर्हित होने के कारण उसका पार भी नहीं पाया जा सकता, 'न अन्तु न थाह' और जिसका अन्त नहीं उसकी गहराई का भी क्या भान ? जीव तो क्या शिव-शुकदेव भी इस ब्रह्म की थाह न पा सके। उसके गुणो की थाह पाने मे प्रयत्नशील कबीर उसे अनन्त कह कर सन्तोष करते हैं। क्योंकि वह पढि पढि ब्रह्मे जनमु गवाइया।' लेकिन अनन्त का अन्त कहाँ ? अनन्त ही जा ठहरा।

अनन्त होने के कारण ही वह अनश्वर, अविनाशी, अक्षर एव अमर है। काल की अबाध गति से कोई नही बच सका, लेकिन एक मात्र ब्रह्म सदा स्थिर है। 'दुई अक्षर न खिसहि' सम्पूर्ण वर्णमाला का विश्लेषण कर कबीर ने अनुभव किया कि रा' और 'म' दो ही ऐसे अक्षर हैं जो वस्तुत 'अक्षर' हैं अत भक्त और जीवन की सार्थकता उन्हीं में तल्लीन होने मे है। अनन्त कह कर भी कबीर के धैर्य म ही उसकी अपनी महत्ता छिपी है। उसकी अतृप्ति एव असन्तोष में ही उसकी अनन्य भक्ति के दर्शन होने हैं। ब्रह्म को अनन्त कहने के पश्चात वह और कुछ न कहें, ऐसी बात नहीं। अपनी सामर्थ्य को सीमित जान कर वह प्रयत्नशील न रह, ऐसी बात भी नही, उसे लगन है, अनवरत एव अनन्य, उस अनन्त की। अरेख, अरूप, असीम तथा अजेय कह कर भी वह उस छोडने को तैयार नहीं, उसके अलौकिक रूप और गुणो को छोड कर लौकिकता के माध्यम से वह हमे अनुमेय का अनुमान कराना चाहता है अनघ का भान कराना चाहता हैं और चाहता है अमूल्य का मूल्य जतलाना। कोउ हरि समानि नहीं राजा। ससार के राजाओं म से तो ब्रह्म का सेवक ही अच्छा है। अत वह तो असम और अनुपम है। लौकिक सम्पत्ति की तरह सा दिया न जाई और एक बार प्राप्त करके उसे छोडा भी नहीं जा सकता। इस प्रकार अदेय' और अत्याज्य ब्रह्म अभेद्य व अच्छेद्य भी है। उसकी तो बात ही दूर की है। उसके नाम-मात्र को भी 'अग्नि न दहै' और न सपूर्ण लौकिक सम्पत्ति देकर उसे खरीदा ही जा सकता है। इसलिए वह अक्रय भी है। लेकिन भक्तों ने अमूल्य ब्रह्म को मन देकर खरीद लिया है। 'मनु दे राम लीया है मोलि। इस प्रकार भौतिक स्थूल गुणो से परे के ब्रह्म को भावात्मक सूक्ष्म गुणों से भी दूर बताया है। कबीर का ब्रह्म घट घट निवासी होकर भी स्वय अघट

अशरीरी ही है और अघट होने के कारण ही एकमात्र वह 'अमल' है क्योंकि 'मैला ब्रह्मा, मला इन्दु' विश्व मे सभी कुछ तो मला है। अदृश्य वह इन्द्रिया तीत भी है, उसे तो केवल चम चक्षुओ के स्थान पर अ त चक्षुओ का ही विषय बनाया जा सकता हैं। विश्व के सम्पूण वाङ्मय का उपयोग करने पर भी वह अवणनीय ही बना रहता है। 'पढ़ै-सुन किया होई' वेदो के पढने व श्रवण से भी वह नय नही, जो वाणी उसका कथन नहीं कर पाती—कबीर उसे 'गू गे का गुड' कह कर ही सतोष कर लेता है। रूप रहित अस्पश्य ब्रह्म इन्द्रियातीत होकर केवल अनुभूतिगम्य है, क्योंकि चचल मन की उच्चतम कल्पनायें भी उस तक नहीं पहुच पाती। ज्ञान की साधिका बुद्धि भी इसे अपनी सीमा म नहीं बाध पाती।

कबीर कवि नही, जो मन से ब्रह्म की कल्पना कर पाता वह ज्ञानी भी नही, जो बुद्धि से उसका चिन्तन कर पाता, वह योगी तो था ही नही जो योग व सिद्धि द्वारा उसे प्राप्त कर पाता। वह तो अनन्य भक्त है, जिसने अनवरत लगन क कारण उसकी अनुभूति की है।

कबीर का ब्रह्म निगुण है अर्थात सभी गुणो से रहित। क्योंकि गुणों का आरोप करते ही वह सगुण हो जाता है। जब गुणा के आधार रूप को वह धारण करता है तो साकार बन जाता है। कबीर को ब्रह्म का यह रूप मान्य नही इसीलिये उसने स्पष्ट ही कहा है कि अपनी इन्द्रियो को अन्तमुखी कर के कोई विरला ही उसके निगुण स्वरूप को जान पाता है जिसे अभिव्यक्ति करन म वह असमथ है। न केवल ब्रह्म को सवव्यापक कहा है अपितु उसके अवतार रूप का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि भक्त उद्धारक श्री कृष्ण न द का पुत्र था, ता नद किसका पुत्र था ? कितना सरल और मधुर होते हुए भी सशक्त तक है। निरजन ध्यावहु' कह कर उसने निगुण के ही निरजन रूप का भी महत्त्व स्थापित किया है तथा अत म उसी को निराकार और निरबानी कह कर उसकी आरती उतारी है। एक मात्र वह निमल होन क साथ साथ विकार रहित होन क कारण निर्विकार भी है, और जिस मे कोई विकार ही नहीं, दोष की सम्भावना कसी ? अत वह निर्दोष भी है। तहं उतपति परलय नाहीं' जहाँ उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं, वहा उसका नित्य स्थायी रूप स्पष्ट हो जाता है। वह न केवल जन्म और मरण स ही परे है, अपितु सभी लौकिक गुणा म भी परोक्ष है।

सम घट दसउ पीठ प्रत्येक प्राणी म उसके दशन होते हैं अत वह

सर्वव्यापक भी है। सर्व-व्यापक वह एक रूप या सम रूप है, क्योंकि घट फूटने पर भी उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। और वह तो 'त्रिभुवन महि रहिओ समाई।' विश्व के अणु-परमाणु में व्याप्त होने के कारण वह सर्वत्र विद्यमान है। बाग देते हुए मुल्ला को धिक्कारते हुए उसने कहा है कि वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ भी है। अतः दुराचार करने से पूर्व मानव को उसके इस गुण का ध्यान रखना चाहिए, तब वह अनायास ही पापकर्मों से बच सकेगा।

यह सर्व-व्यापक और सर्वज्ञ ब्रह्म ही सृष्टि कर्ता एवं सर्व-स्रष्टा है। सृष्टि रचना क्रम पर प्रकाश डालते हुए उसने बताया है कि सर्वप्रथम प्रकाश, पुनः प्रकृति एवं तत्पश्चात प्राणी व मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। 'माटी एक अनेक भांति करि साजी साजन हारै।' कुम्हार-ब्रह्म ने जिस माटी से अन्यान्य घटों का निर्माण किया है—उसमें परिवर्तन आ सकता है, लेकिन उपादान माटी तो वही रहेगी। 'सभु जगु आनि तनाइओ ताणा।' जुलाहा कबीर यदि ब्रह्म को जुलाहा बनाकर उससे विश्व का ताना बाना न बुनवाता तो उसकी आत्मीयता का परिचय कहां से मिलता। लेकिन इस रहस्य को उसके सिवाय और कोई नहीं जानता। इस आत्मा का विकास भी उस ब्रह्म से ही हुआ है और इसे आधार प्रदान करने के लिए उसने ही तो 'धूरि सकेलि कै पुरीआ बाँधि देह' थोडी सी धूल की पुड़िया बाध कर देह को खड़ी कर दिया आज का बौद्धिक मानव अपने वास्तविक अस्तित्व को समझे, तो अनायास ही उसके अहं का विघटन हो जावे और भावनाओं का उदात्तीकरण हो। वह सच्चे अर्थों में मानव-तत्व के निकट आ सकेगा। काश! सृष्टिकर्त्ता के इस खेल को कोई जानता? यह सर्व स्रष्टा ही सर्वकर्त्ता एवं सर्व नियन्ता भी है क्योंकि यही तो संहारक महेश का साधन एवं यम का भी स्रष्टा है। इसलिए जीव से कहता है कि विधाता ने तुम्हारे कर्मों के अनुरूप जो विधान कर दिया है उसे 'मेटि न साकै कोइ'। और फिर जीव की स्वतन्त्र सत्ता ही क्या? इस प्रकार कबीर पूर्ण विश्वास दिलवा देता है कि जो उजड़ को बसाता है जल को थल और थल को जलमय कर देता है एकमात्र वही सृष्टि के सम्पूर्ण कार्यों का कर्त्ता है। अतः जीव को उसकी कर्तृत्व शक्ति में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए।

एक मात्र कर्त्ता ही सर्व-शक्तिमान् व सर्व-समर्थ है। तीनों लोकों को उसी ने श्रृंखला-बद्ध किया है अतः ऐसे महान स्वामी को छोड़कर कहां जाते हो? यह सर्व समर्थ ब्रह्म ही तो सर्व नियन्ता भी है क्योंकि उसके नियन्त्रण के बिना कोई कार्य सम्पन्न ही नहीं हो सकता। विश्व के बड़े से बड़े दानी उसके

सम्मुख याचक वाकर गिडगिडाते हैं, ऐसे व्यक्तियों में प्राग कबीर कयाकर हाथ पसारे, यह तो स्वत ही ऐसे दानी की खोज म है, जो सब कुछ दने की क्षमता रखता हो 'तुम समरथ दाते चारि पदारथ देत न बार'। जीवन म एक मात्र प्राप्त धम, अथ, काम और मोक्ष सभी कुछ देने म वह क्षण भर का समय भी नहीं लगाता। इससे स्पष्ट है कि सब नियता ही एक मात्र सवज्ञानी है। सम्पूण लौकिक और अलौकिक सम्पत्ति का एक मात्र 'दाता इक रघुराई' जो ठहरा।

सत्र ज्ञानी सब व्यापक वह सत्य स्थिर होने के कारण सब समयों भी है, न कोई स्थान और न ही कोई एसा समय है, जहां उसका प्रभाव हो। जीव के विश्वास और अनुभव की बात है कि उसका साक्षात्कार कर सके। यह सदा एक रूप या समरूप बना रहता है, उसम कभी कोई परिवतन नहीं क्योंकि शिव आदि देवताओं की तरह वह तो काल कवलित होता नहीं। इसलिए एक-मात्र वही सत्य चिरतन सत्य है, अत सवभावेन उसी को पूर्ण आत्म-समर्पण करना चाहिए, क्योंकि उस व्यथित जीव का जिसने 'कहू न पाइआ ठौर' एक मात्र सहायक व आश्रयदाता वह ब्रह्म ही है, कबीर की अनुभूति का अभिव्यक्ति मिली—'तिस बिन दूसर को नही। कितना सरस भावात्मक सत्य है।

अनुपम वह ज्योति स्वरूप है और उसकी ज्योति के अनुभव के लिए आवश्यक है कि जीव पहले इस बात को समझ ले कि वह एक ही अनेक होइ रहिओ सगल महि'। तब अपने अन्तर मे भी उसकी सत्ता व ज्योति का प्रकाश अनुभव हो सकता है। अन्तर म उसकी ज्योति की अनुभूति होते ही 'छूटे भरम मिले गोविन्द' और दहदिस होइ आनंद'। इस आनद के लिए ही तो जीव जन्म भर चक्कर काटता रहता है। यह होता तब है, जब ब्रह्म की जीव पर कृपा हो। इस कृपा के परिणाम स्वरूप ही माया का बन्धन तोड कर वह जीव के हृदय की कुटिल गाठ खोल देता है। तब उसका उद्धार होता है। अन्यान्य विश्व के सभी भक्तों के उद्धार के उदाहरण प्रस्तुत कर कबीर ने उसके कृपालु और उद्धारक स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अब तक उसके माहात्म्य का दर्शन अलौकिक गुणों के माध्यम से करवाया था लेकिन वे गुण तो मानव बुद्धि को आश्चर्यान्वित अधिक करते हैं, वयक्तिक जीवन को प्रभावित कम। लौकिक धरातल पर उसकी सत्ता की महत्ता तो लौकिक गुणों के माध्यम से ही स्थापित की जा सकती है। इसी लिए तो बाह्य भ्रम के आवरण तथा आन्तरिक अज्ञान को दूर कर उसे अन्तर को अपनी ज्योति से ज्योतित करने वाला बताया है। उसका कृपा पात्र भक्त अनायास ही पुकार उठता है 'राम समान न

देखउ ग्रान।' इसलिए तो उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए भक्त कहता है कि जीवन भर 'हरि सेवा करउ तुमारी।'

कृपालु वह ही तो भक्त का एक मात्र रक्षक है, सत 'प्रहलाद की पैज जिनि राखी' और ऐसा करने के लिए उसी ने ता 'हरनाखस नख विदरिम्रो।' भगवान के इस भक्त रक्षक व उद्धारक रूप ने ही श्री कृष्ण को यह कहने पर विवश कर दिया था—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिभवति भारत।
अभ्युत्यानधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥'

यह उद्धारक और रक्षक ही तो एक मात्र 'तरन तारन' है। क्योंकि जो स्वय ही जगत् के पार नहीं पहुँच सकता, वह औरो को क्या पार पहुचा देगा? ऐसा उद्धारक ही जीव के सब कष्टो को दूर करता है और उसके भय का नाश कर एक मात्र सफल शरणदाता सिद्ध होता है। इस प्रकार लौकिक विपदाओं से जीव की रक्षा कर लौकिक सम्पदाओं के माध्यम से अलौकिक आनद तक पहुचाने वाला स्रष्टा ही भक्त का एकमात्र स्थल है। अत सब भावन भक्त को उसी के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।

इस प्रकार कबीर का अनादि एव अनन्त ब्रह्म जो न केवल अतीन्द्रिय और अज्ञय ही है, अपितु वह ता अननुमेय भी है, किस प्रकार उसकी कोई झलक विश्व को दी जा सकती है। कबीर का दृढ विश्वास ब्रह्म की महत्ता से कम महान नहीं, उसका अनुभव है कि भक्त की अनन्य, अनवरत व सतत भक्ति अनायास ही ब्रह्म का भी दर्शन करवा देती है। कबीर साधन प्रस्तुत करता है हरि पदु दृढ करि रहिए ऐसा करने से धीरे धीरे जीव का मिटै मोह तनु ताप और तन उसे, 'हरख सोग दाझे नही' और जब जीव को सुख दुख विचलित न कर सकेंगे, तब अवश्य ही वह महत्-तत्व को अनुभव करना प्रारम्भ करेगा। कौन जानता है कि वह अपने ही भगवत अग को उभार कर अभेद दृष्टि स उसी की महत्ता को अनुभव करने लग जावे इस प्रकार अननुमेय केवल अनुभूति गम्य है। नाम मे तल्लीन होकर जिसने उसमे चित्त लगाया है उसीने उसे अनुभव किया है। इस अनुभव मे ही उसे सच्चे आनद की प्राप्ति होती है, इसीलिए तो 'अब मरा मन् कतहूँ न जाहि। क्योंकि आनद का वही तो एक मात्र आगार है। लौकिक दृष्टि से सभी प्रकार से अगम्य अदृश्य, अज्ञेय व अप्राप्त ब्रह्म भी भक्त की पहुँच स दूर नहीं—इस पहुँच तक पहुच जाने में ही तो कबीर की आर भक्त की महिमा है, जिसका एकमात्र साधन है अनुभूति।

ब्रह्माण्ड में ब्रह्म की स्थिति कहां है ? यह भी कम कौतूहलोत्पादक विषय नहीं ? यों तो सर्वव्यापक होते हुए भी वह एकदेशीय नहीं। उसके गुणों में यह विरोधाभास ही जीव को आश्चर्यान्वित कर देता है। उसकी निरारी, अकथ कथा को कबीर कहने का प्रयत्न करता है कि वह तो वहां है जहां सिंधु वर्षा धूप, छाह की तो बात ही अलग वहां ना उत्पत्ति और प्रलय भी नहीं है। इतना ही नहीं वहां तो जीवन मृत्यु, सुख दुख कुछ भी नहीं। ऐसा स्थान तो ब्रह्माण्ड भर में ढूंढ निकालना कठिन होगा। इससे भी बढ़कर 'राति दिवस तह नाहिं। इसकी भी सम्भावना हो सकती है लेकिन उसने तो प्रकृति के मूल भूत पांचों तत्वों की स्थिति को भी स्वीकार नहीं किया—'जलु पवनु पावकु पुनि नाहीं। ऐसे स्थान पर ही तो अनुपम और अनन्य की स्थिति हो सकती है, वहां तो सूर्य और चांद भी नहीं क्योंकि उसे तो किसी अन्य ज्योति से ज्योतित होने की आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण वाङमय का साधन जो बावन अक्षर है इन्हीं में तीनों लोक एवं सम्पूर्ण सृष्टि आ जाती है, लेकिन 'ओह अक्षर' इन महि नाहि क्योंकि ए अखर खिरि जाहिगे अतः ब्रह्म की स्थिति तो सम्पूर्ण वाङमय में भी नहीं आ पाती, क्योंकि यह सीमित और नश्वर है। लेकिन वह इन गुणों की सीमाओं की परिधि से बाहर है कि उसकी स्थिति कहीं भी नहीं। लेकिन हम यह भी नहीं भूल सकते कि सर्व व्यापक एवं सर्वान्तर्यामी होने के कारण वह 'सगल घट भीतर निवास करता है। इस घर मह है। वह न केवल इस घट रूपी घर में है अपितु उसकी इससे भी सूक्ष्म स्थिति है अ यथा घट के नष्ट हो जाने पर उसकी सत्ता कहां है ? लेकिन एसा नहीं होता। 'हिरदै कमल महि हरि का वास इस स्थूल देह में भी उसका निवास स्थान हृदय है 'अत दिल महि खोजि' क्योंकि कबीर को पूर्ण विश्वास है कि 'एही ठउर मुकामा।' भक्त अनन्य भक्ति से उसे हृदय में अनुभव कर सकता है, क्योंकि कबीर ने स्वतः ऐसा किया है। योगियों के लिए उसने 'अगम द्रगम रचिआ और यह दुर्ग है सहस्रदल कमल का। वहां निरन्तर प्रकाश रहता है, तथा वहीं अनहद नाद होता है जिसके आनन्द को वहां पहुँचने वाला जीव ही अनुभव कर पाता है, लेकिन उसके रहस्य को शेषनाग तक नहीं समझ सकता। अ यत्र स्थिति को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि सहस्रदल कमल में ब्रह्मरंध्र है उसी में ब्रह्म रसामृत का 'सरवरु भरा है जिसका पान करने में ही मानव जीवन की सफलता है। मौलवियों को भी कबीर ने पुकार-पुकार कर कहा है कि 'तन महि हरि' अतः उसे बाहर ढूँढने का सब प्रयत्न व्यर्थ है, अतः तुम भी मनो,

उसे अतर में अनुभव कर उससे ऐक्य स्थापित कर जीवन को सार्थक करो। तनु करि मटुकी मन माहि बिलोई' देह की मटकी मे मन को बिलोने पर ही गुरू की कृपा से जीव 'पाव अमृत धारा।' 'पच्छिमि अलह मुकामा' मान कर बाग देने वाले मुल्ला को भी उसने ललकारा है 'साई न बहरा होइ, जा कारन तू बाग देहि' क्योंकि वह तो 'दिलहि भीतर होइ' ब्रह्मानुभूति कर जब उससे ऐक्य ही स्थापित हो गया, तब पुन कबीर को ब्रह्म की स्थिति के विषय में भ्रम हो गया है और वह अपने आपसे ही पूछता है कि 'पीउ मह्हि जीउ बसै' अथवा 'जीउ मह्हि बसै कि पीउ। कितनी, मधुर सरस और अह्लादक अवस्था है, अब तो ब्रह्म स्थिति के भान की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि ब्रह्म-स्थिति का बोध जिस साध्य का साधन था, उसकी प्राप्ति के बाद साधन का महत्त्व ही क्या?

जिस सर्व-व्यापक की स्थिति का कुछ आभास मिला है, उस अरूप के रूप की कल्पना भी कुछ कम मधुर और अनुपयुक्त न होगी। उसके विराट रूप का कुछ अनुमान तो इसी से लग सकता है कि रोमावलि कोटि अठारह भार। अठारह पराड पवत श्रखलाए तो उसकी रोमावलि मात्र है और 'कोटि जग जाके दरबार।' अत उसके इस विराट रूप के अनुरूप ही करोडो इन्द्र 'जाके सेवा करहि' अन त ब्रह्मा उसके गुण गान करने मे वद उचर' लेकिन इतना होत हुए भी वह ऐसा है 'जाके रेख न रूप।' कितना अद्भुत विरोधाभास है और सत्य। क्योंकि निगुण वह तो सगुण भी नही बनता, फिर साकार की तो बात ही कहा? सव व्यापक होता हुआ भी वह तो शू यमण्डल है। सवसष्टा भी सम्पूण ब्रह्माण्ड म रमा हुआ है लेकिन केवल 'सिरजाम मूरति नाहि। अत माटी एक भेख धरि नाना उसके रूप को न तो किसी सीमा म बाँधा जा सकता है और न किसी आकार मे रखा जा सकता है या देखा जा सकता है। सम्पूण प्रकृति म उसी के दशन होते हैं लेकिन किसी एक स्थान पर उसके दशन नही होते। इतना ही नहीं बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। लौकिक रूप से रहित होते हुए भी सवगुण सम्पन्न है और बिना किसी असुविधा के सभी काय कर लेता है। कुल मिला कर वह रूप रग और आकार से अतीत है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निगुण और सगुण से परे वह गुणातीत है।

इससे कबीर के ब्रह्म का रूप स्पष्ट है, लेकिन उद्धरण स्वरूप अवतार राम या कृष्ण की झलक भी बहुत स्थानों पर मिलती है इससे हम उसे अव तार में विश्वासी नही कह सकते। यह साहित्यिक परम्पराए और समाजिक

जीवन के लिए उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत स्थल हैं, अत उनके आधार पर कबीर मे साकार ब्रह्म' के दर्शन करना भूल होगी। इतना ही नही, बहुत से स्थलो पर तो उन्होने 'बीठुल' 'पीताम्बर' 'राम' आदि शब्दो का प्रयोग भी निराकार के लिए किया है। अपने 'राम' को 'दाशरथि' न कह कर उन्होने इस भ्रम का निवारण भी कर दिया है। उसके रूप के दर्शन और आख्यान मे अपने आपको असमर्थ पाकर अत म उमने कहा है कि न तो उसकी उपमा दी जा सकती है और न ही किसी से तुलना की जा सकती है। चम चक्षुओ से उसे देखा नही जा सकता अन्य इन्द्रियो से उसका अनुमान नही लगाया जा सकता और बुद्धि से भी उसे जाना नही जा सकता। ऐसा 'तत अनूप' जो है, वह तो केवल 'जोति सरूपी' है। अत उसकी सत्ता की तरह उसके रूप को भी केवल अनुभव ही किया जा सकता है। इसलिए कहा है—कि ब्रह्म का ज्ञान सम्भव नहीं, लेकिन अनुभूति के बाद उसकी कोई पृथक सत्ता ही नही रहती।

ब्रह्म का आत्मा से सम्बन्ध—

'इह राम का अंसु' यह आत्मा ब्रह्म का अंश है और इसकी उत्पत्ति भी उसी म से हुई है। लेकिन विश्व मे आ जाने के बाद उस की स्थिति उसी प्रकार की हो जाती है। 'जस कागद पर मिट न मसु।' इससे स्पष्ट है कि इसका अपना अस्तित्व बन जाता है। लोक म निकटतम एव उत्कृष्ट सम्बन्ध दाम्पत्य ही है अत कबीर आत्मा को सम्बोधित करके कहता है कि 'चेरी तू रामु न करसि भतारा। आत्मा को भी यह अनुभव करने म देर नहीं लगती। आत्मा न कबीर की सीख को स्वीकार किया और नव वधू की भांति अपने पति के समीप पहुंचने चलि गई। यद्यपि हृदय से पति की महत्ता को पूर्णतया अनुभव कर लिया है, फिर भी उसे सन्देह बना हुआ है कि न जानउ किआ करसों पीउ क्योंकि जीवन का यौवन तो उसे पहिचानने म ही व्यतीत हो गया, जो कि वास्तविक संयोग का समय था लेकिन उसे अपने पति पर विश्वास है कि वह उसे पूर्णतया अपना लेगा। अपने विश्वास को सत्य पाकर वह आह्लाद म पुकार उठती है हरि मेरी पिउ हउ हरि की बहुरिया।' पत्नी पति मे धीरे धीरे घनिष्ठता बढ़ती चलती है, जब तक उनमे पूर्ण ऐक्य नहीं हो जाता। एकत्व ऐसा जिसमें दोनों का अलग अस्तित्व किसी भी प्रकार अवशिष्ट न रह जावे। 'हरदी पीअरी चूना ऊजल' दोनों मिलकर अरुण हो जाते हैं दोनों के रंग म ही नहीं, रूप और गुण म भी परिवर्तन आ जाता है और इस प्रकार दोनों अपनी अलग सत्ता समाप्त कर नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा प्रेम भाव है जिसमें त्याग

हो—व्यक्तित्व का, अस्तित्व का। बहुरिया आत्मा की महत्ता इसी मे है कि वह अपना अस्तित्व पति मे इस प्रकार विलीन कर दे कि इस मिलन को न कोई जान सके क्योंकि 'एक जाति एका मिलि' यह तो एक ज्योति का दूसरी ज्योति मे लीन होना है और उसका 'तेज तेजु समाना', तेज महातेज मे समाहित हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म से उद्भूत होकर लोक म विचरण करने वाली आत्मा—उसकी पत्नी बनकर उससे ऐसा ऐक्य विधान करती है, जो अनायास ही अपने अस्तित्व तक को उसी मे विलीन कर देती है और सदा के लिए अपने उद्गम स्रोत म जा मिलती है।

कबीर का 'कबीरत्व' इसी में है कि उसने केवल 'अनभौ साच' को ही अभिव्यक्ति दी। इसीलिए उसके ब्रह्म-वणन मे सत्य का बल, वाणी का ओज भाषा की सरलता और सादगी, जिन्दगी की सच्चाई, वास्तविक आचार की रूप रेखा, हृदय का पीडन, भाव का उच्छ्वसन, ज्ञान का प्रकाश, बौद्धिकता का विकास, मानव मन का स्वभाव, समाज का कल्याण है और इनसे भी बढकर है जीवन का अमर सन्देश, एकमात्र सत्य ब्रह्म मे तादात्म्य। जिसने उसे पहचाना वह अमर हो गया, जिसने उसे पढा वह पण्डित हो गया, जिसने उसे सुना वह निमल हो गया और जिसने उसे अपनाया वह तो स्वय ही कबीर हो गया।

● ● ●

• • • रविदास की विचारधारा

अन्य संतों की भांति रविदास भी दार्शनिक न होकर, अध्यात्मपथ के पथिक संत ही थे। वस्तुतः उनके संत-व्यक्तित्व में संत भी साधक रविदास का रूप ही अधिक उभर कर सामने आता है। कबीर शीघ्र ही अपने साध्य तक पहुंच गए थे। ऐसी अवस्था में वे भक्तों को ही नहीं, अपितु जन सामान्य को भी अपने पथ पर खींच रहे थे। रविदास जीवन के अंत तक पथिक ही बने रहे, उनके पदों की ध्वनि स्पष्ट ही उनके 'पथिक जीवन' का भान करा देती है। ऐसी अवस्था में उनकी अनुभूतियों से प्रासाद का निर्माण करना भी कठिन है। कबीर की अनुभूति की अभिव्यक्ति में अनायास ही विचार स्पष्ट होते चलते हैं, अतः वहां विचारों की प्राप्ति उतनी कठिन नहीं, जितना उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं तत्पश्चात उन्हें किसी निश्चित विचारधारा का रूप देना। लेकिन रविदास की अनुभूतियों की छान बीन में स्वतः ही विचारों को ढूंढना पड़ता है। इसीलिए कबीर में दार्शनिक विचारों की खींचातानी की भांति ही किसी को 'रैदास में सगुण निराकार ब्रह्म के दर्शन होते हैं।[1] इतना ही नहीं साथ ही रैदास त्रिदेवों में भी विश्वास करते दिखलाई देते हैं।[2] तो भी पूजा भावना के विरुद्ध बोलते दिखलाई पड़ते हैं।[3] एक अन्य विद्वान् का मत है कि उन्होंने सगुण और निगुण दोनों की उपासना पद्धतियों का समन्वय करके अपनी मौलिक उपासना पद्धति निर्धारित की थी। दूसरे शब्दों में वे सगुण के माध्यम से निगुण तक पहुंचने के समर्थक थे।[4] जमोहू

1 निगुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ. 254 2 वही
3 निगुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ. 37
4 रविदास और उनका काव्य रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पाण्डय प 217

दुम्रादस सिला पूजार्द' तो रविदास को 'पापी नरक सिधारिम्रा'[1] कहने की भ्रावश्यकता क्यो अनुभव हुई ? इसका विस्तृत समाधान यथास्थान होगा। एक अन्य विज्ञ लेखक का विश्वास है कि वे 'स्वय बहुत ऊचे ज्ञानी भक्त थे जिसे मूर्ति की भ्रावश्यकता नही रह जाती, परन्तु दूसरो के लिए वे मूर्ति की भ्रावश्यकता समझते हैं।[2] इतना ही नही, बिना किसी उद्धरण के (सम्भवत किसी किवदन्ती के भ्राधार पर) यह भी लिखा है कि कहा जाता है कि उन्होंने एक मन्दिर भी बनवाया था जिसमे वे स्वय पुजारी रहे थे ?[3] लेकिन रविदास ने एक स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है 'कहीग्रत भ्रान भ्रचरीग्रत भ्रान कछु समझ न परं।[4] भ्रत साक्ष्य का विशेष महत्त्व स्वीकार करना ही चाहिए। इन सन्तो की एक ही तो मूल विशेषता थी 'कथनी भ्रौर करनी' मे एकता। यदि उनकी इस विशेषता का भी परिहार कर दिया जाए, तो भ्राज के पोगा उपदेशकों से भ्रधिक उनका क्या मूल्य रह जाता है ? इस विषय मे सेन द्वारा लिखित 'कबीर रदास सवाद'[5] (रचनाकाल सवत 1445 लगभग) विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है, जिसमे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि सवाद से पूर्व रविदास सगुण के पुजारी थे और उसके बाद निर्गुण के उपासक।

जो हो इस सबसे बढ कर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने स्रष्टा तथा सृष्टि भ्रादि के विषय मे उतना कहा नही, जितना 'जाति विखिम्रात चमार'[6] के विषय मे क्योंकि वह भ्रौर उससे भी बढ कर उनकी जाति ही प्रसिद्ध है, भ्रत उसी विषय मे उन्होंने अधिक कहना उपयुक्त समझा। सम्भवत इसीलिए इस बात को भी कभी न भूलें कि—

जाति ओछा पाति भ्रोछा भ्रोछा जनमु हमारा[7] भ्रौर ब्रह्म के भ्रनत गुणो व रूपों मे से पतितपावन[8] से प्रारम्भ कर 'भक्त उद्धारक[9] तक ही पहुच सके। इस 'पतितपावन तथा 'भक्त उद्धारक भगवान् के रूप मे ही उनके ब्रह्म का माहात्म्य छिपा हुम्रा है। उस माहात्म्य का कथन जीव ता क्या ? 'जोगीसर

---

1 पृ 857 रवि 2 (श्री गुरु ग्रथ साहिब के देवनागरी सस्करण की पृष्ठ सख्या दी गई है।)

2 3 हि स पी ब पृ 41 4 पृ 658 रवि 3

5 भ्रप्रकाशित ना प्र सभा में सुरक्षित 6 पृ 1293 रवि 1

7 पृ 486 रवि, 3

8 'ग्रथ मे रविदास का प्रथम पद पृ 93 1

9 'ग्रथ मे रविदास का अन्तिमपद पृ 1292 2

• • • रविदास की विचारधारा

अन्य सतो की भांति रविदास भी दार्शनिक न होकर, अध्यात्मपथ के पथिक सत ही थे। वस्तुत उनके 'सत व्यक्तित्व मे से भी साधक रविदास का रूप ही अधिक उभर कर सामने आता है। कबीर शीघ्र ही अपने साध्य तक पहुच गए थे। ऐसी अवस्था में वे भक्तों को ही नहीं, अपितु जन सामान्य को भी अपने पथ पर खींच रहे थे। रविदास जीवन के अत तक पथिक ही बने रहे, उनके पदो की ध्वनि स्पष्ट ही उनके 'पथिक जीवन का भान करा देती है। ऐसी अवस्था मे उनकी अनुभूतियो से प्रासाद का निर्माण करना भी कठिन है। कबीर की अनुभूति की अभिव्यक्ति में अनायास ही विचार स्पष्ट होते चलते हैं, अत वहाँ विचारो की प्राप्ति उतनी कठिन नहीं, जितना उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन एव तत्पश्चात उन्हें किसी निश्चित विचारधारा का रूप देना। लेकिन रविदास की अनुभूतियों की छान बीन मे स्वत ही विचारो को ढूढना पडता है। इसीलिए कबीर मे दार्शनिक विचारो की खींचातानी की भाति ही किसी को 'रैदास म सगुण निराकार ब्रह्म के दर्शन होते हैं।[1] इतना ही नही साथ ही रैदास त्रिदेवो मे भी विश्वास करते दिखलाई देते हैं।[2] तो भी पूजा भावना के विरुद्ध बोलते दिखलाई पडते हैं।[3] एक अन्य विद्वान् का मत है कि उन्होने सगुण और निर्गुण दोनो की उपासना पद्धतियो का समन्वय करके अपनी मौलिक उपासना पद्धति निर्धारित की थी। दूसरे शब्दों मे वे सगुण के माध्यम से निर्गुण तक पहुचने के समर्थक थे।[4] 'ज मोहु

---

1 निर्गुण काव्य दर्शन सिद्धनाथ तिवारी पृ 254 2 वही
3 निर्गुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ 37
4 रविदास और उनका काव्य रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पाण्डय प 217

दृश्यादस मिला पूजार्थ' तो रविदास को 'पापी नरक सिधारिया[1] कहने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? इसका विस्तृत समाधान यथास्थान होगा। एक अन्य विज्ञ लेखक का विश्वास है कि वे 'स्वय बहुत ऊचे ज्ञानी भक्त थे जिसे मूर्ति की आवश्यकता नही रह जाती, परन्तु दूसरो के लिए वे मूर्ति की आवश्यकता समझते हैं।[2] इतना ही नही, बिना किसी उद्धरण के (सम्भवत किसी किवदन्ती के आधार पर) यह भी लिखा है कि कहा जाता है कि उन्होने एक मन्दिर भी बनवाया था जिसमे वे स्वय पुजारी रहे थे'[3] लेकिन रविदास ने एक स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है 'वहीमत आन अचरीमत आन बहु समझ न पर।[4] अत साक्ष्य का विशेष महत्त्व स्वीकार करना ही चाहिए। इन सन्तो की एक ही तो मूल विशेषता थी 'कथनी और करनी' मे एकता। यदि उनकी इस विशेषता का भी परिहार कर दिया जाए, तो आज के थोथा उपदेशकों से अधिक उनका क्या मूल्य रह जाता है ? इस विषय मे सेन द्वारा लिखित 'कबीर रैदास सवाद'[5] (रचनाकाल सवत् 1445 लगभग) विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है, जिससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि सवाद से पूर्व रविदास सगुण के पुजारी थे और उसके बाद निर्गुण के उपासक।

जो हो इस सबसे बढ कर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होने स्रष्टा तथा सृष्टि आदि के विषय म उतना कहा नहीं, जितना 'जाति बिखिआत चमार'[6] के विषय में क्योकि वह और उससे भी बढ़ कर उसकी जाति ही प्रसिद्ध है, अत उसी विषय म उन्होने अधिक कहना उपयुक्त समझा। सम्भवत एसीलिए इस बात को भी कभी न भूलें कि—

'जाति ओछा पाति ओछा ओछा जनमु हमारा'[7] और ब्रह्म के अनन्त गुणों व रूपों मे से पतितपावन'[8] से प्रारम्भ कर 'भक्त उद्धारक'[9] तक ही पहुच सके। इस 'पतितपावन तथा 'भक्त उद्धारक भगवान् के रूप में ही उनके ब्रह्म का माहात्म्य छिपा हुआ है। उस माहात्म्य का कथन कौन सा क्या ? 'जागीसर

---

1 प 857 रवि 2 (श्री गुरु ग्रथ साहिब के देवनागरी सस्करण की पृष्ठ सख्या दी गई है।)

2, 3 हि स पी ब पृ 41

4 पृ 658 रवि 3

5 अप्रकाशित ना प्र सभा में सुरक्षित

6 पृ 1293 रवि 1

7 प 486 रवि, 3

8 'ग्रथ मे रविदास का प्रथम पद प 93, 1

9 'ग्रथ मे रविदास का अन्तिमपद प 1292 2

• • • रविदास की विचारधारा

अन्य संतो की भाति रविदास भी दार्शनिक न होकर, अध्यात्मपथ के पथिक संत ही थे। वस्तुत उनके 'संत व्यक्तित्व' म स भी साधक रविदास का रूप ही अधिक उभर कर सामने आता है। कबीर शीघ्र ही अपने साध्य तक पहुच गए थे। ऐसी अवस्था मे वे भक्तों को ही नही, अपितु जन सामान्य को भी अपने पथ पर खीच रहे थे। रविदास जीवन के अत तक पथिक ही बने रहे, उनके पदो की ध्वनि स्पष्ट ही उनके 'पथिक जीवन' का भान करा देती है। ऐसी अवस्था मे उनकी अनुभूतियो से प्रासाद का निर्माण करना भी कठिन है। कबीर की अनुभूति की अभिव्यक्ति म अनायास ही विचार स्पष्ट होते चलते हैं, अत वहाँ विचारो की प्राप्ति उतनी कठिन नही, जितना उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन एव तत्पश्चात उन्हें किसी निश्चित विचारधारा का रूप देना। लेकिन रविदास की अनुभूतियो की छान बीन मे स्वत ही विचारों को ढूढना पडता है। इसीलिए कबीर मे दार्शनिक विचारो की खीचातानी की भाति ही किसी को 'रैदास म सगुण निराकार ब्रह्म के दर्शन होते हैं।[1] इतना ही नही साथ ही रैदास त्रिदेवा म भी विश्वास करते दिखलाई देते हैं।[2] तो भी पूजा भावना के विरुद्ध बोलते दिखलाई पडते हैं।[3] एक अन्य विद्वान् का मत है कि उन्होन सगुण और निर्गुण दोनो की उपासना पद्धतियों का समन्वय करके अपनी मौलिक उपासना पद्धति निर्धारित की थी। दूसरे शब्दों में वे सगुण के माध्यम से निर्गुण तक पहुचने के समर्थक थे।[4] जे मोहू

---

1 निर्गुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ 254 2 वही
3 निर्गुण काव्य दर्शन, सिद्धनाथ तिवारी पृ 37
4 रविदास और उनका काव्य रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पाण्डेय पृ 217

दुग्रादस मिला पुजार्व' ता रविदास को 'पापी नरक सिधारिग्रा[1] कहने की ग्रावश्यकता क्या अनुभव हुई ? इसका विस्तृत समाधान यथास्थान होगा। एक अन्य विन लेखक का विश्वास है कि व 'स्वय बहुत ऊचे ज्ञानी भक्त थे जिसे मूर्ति का ग्रावश्यकता नही रह जाती, परन्तु दूसरी के लिए वे मूर्ति की ग्रावश्यकता समझते हैं।[2] इतना ही नही, बिना किसी उद्धरण के (सम्भवत किसी किवन्ती के ग्राधार पर) यह भी लिखा है कि कहा जाता है कि उन्होंने एक मन्दिर भी बनवाया था, जिसमे वे स्वय पुजारी रहे थ'[3] लेकिन रविदास ने एक स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है 'कहीग्रत ग्रान ग्रचरीग्रत ग्रान कछु समझ न पर।[4] ग्रन साक्ष्य का विशेष महत्त्व स्वीकार करना ही चाहिए। इन स तो की एक ही तो मूल विशेषता थी 'कथनी ग्रौर करनी' में एकता। यदि उनकी इस विशेषता का भी परिहार कर दिया जाए तो ग्राज के पोगा उपदेशकों से ग्रधिक उनका क्या मूल्य रह जाता है ? इस विषय मे सेन द्वारा लिखित 'कबीर रैदास सवाद'[5] (रचनाकाल सवत 1446 लगभग) विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है, जिसम स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि सवाद से पूव रविदास सगुण के पुजारी थे और उसके बाद निगुण के उपासक।

जो हो इस सबसे बढ कर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने स्रष्टा तया सृष्टि ग्रादि के विषय मे उतना कहा नहीं, जितना 'जाति बिखिग्रात चमार'[6] के विषय मे क्योंकि वह ग्रौर उससे भी बढ़ कर उनकी जाति ही प्रसिद्ध है, अत उसी विषय मे उन्होंने अधिक कहना उपयुक्त समझा। सम्भवत इसीलिए इस बात को भी कभी न भूलें कि—

जाति ग्रोछा पाति ग्रोछा ग्रोछा जनमु हमारा[7] ग्रौर ब्रह्म के ग्रनत गुणों व रूपा म से 'पतितपावन'[8] से प्रारम्भ कर 'भक्त उद्धारक'[9] तक ही पहुच सके। इस 'पतितपावन तथा 'भक्त उद्धारक भगवान के रूप म ही उनके ब्रह्म का माहात्म्य छिपा हुग्रा है। उस माहात्म्य का कथन जीव तो क्या ? 'जोगीसर

---

1 प 857 रवि 2 (श्री गुरु ग्रथ साहिब के देवनागरी सस्करण की पृष्ठ सख्या दी गई है।)

2, 3 हि स पी व पृ 41 4 पृ 658 रवि 3

5 ग्रप्रकाशित ना प्र सभा में सुरक्षित 6 प 1293 रवि, 1

7 प 486 रवि, 3

8 'ग्रथ मे रविदास का प्रथम पद पृ 93 1

9 'ग्रथ म रविदास का ग्रन्तिमपद पृ 1292, 2

पावहि नहीं तुम गुण कथनु अपार[1] जोगी भी कथन नही कर पाते, इसलिए भक्त रविदास ने साध्य के ज्ञान म उतना प्रयत्न करना उचित नही समझा, जितना कि उसे पाने के साधन म। अत कहा—'अकथ कथा बहु काइ करीज,[2] क्योकि हे भगवान्! 'पढीऐ गुनीऐ नामु सभु सुनीऐ अनमऊ भाऊ न दरस [3] तुम तो न केवल अकथ्य अपितु पठन तथा श्रवण से परे अतीन्द्रिय भी हो। यही है उसके स्वरूप की एक झलक। उसकी स्थिति पर विचार करते हुए उसे न केवल घट घट में निवासी कहा है, बल्कि 'तीनि लोक प्रवेस [4] कह कर उसे सर्वान्तर यामी बताया गया है। रविदास को वेदो, शास्त्रो आदि का भी कबीर जितना ज्ञान न था। उन्होंने 'नेति गुणों का आश्रय न लेकर ब्रह्म को जिस रूप म अनुभव किया, उन्ही गुणो के द्वारा वणन किया है। अनुभूति म क्या नही है? इस बात का महत्त्व नही, वह क्या, कैसा व कहां है, इस बात का महत्त्व है। सवव्यापक वह 'जगत गुर सुआमी'।[5] बाजीगरवत[6] सम्पूण सष्टि का निर्माता भी वही है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है —

एक ही एक अनेक होई बिसथरिओ आन रे आन भरपूरि सोउ।[7]
वह स्वत ही सम्पूण सृष्टि मे प्रसारित हुआ। इसलिए वही 'सगल भवन के नाइका [8] सम्पूण जगत का नियता भी है। नियता वही तो एक मात्र सवदाता है, क्याकि सासारिकों एव देवताओं के भी सब कुछ देने वाले 'सुरतर और 'कामधेनु उसी की देन है —

सुख सागरू सुरतर चितामनि कामधेनु बसि जाके।
चारि पदारथ असट दसा सिधि नवनिधि करतल जाके।[9]

इस प्रकार वह न केवल भवनखण्डन'[10] अपितु पूरनकाम [11] भी है। 'मुक्ति का दाता' वह 'गरीब निवाजु'[12] ही नहीं, मेटि जाति हुए दरबार [13]

---

1 पृ 346 रवि, 1
2 पृ 858 रवि, 1
3 पृ 973 रवि, 1
4 पृ 1124 रवि 1
5 पृ 710 रवि, 1
6 पृ 487 रवि, 1
7 पृ 1293 रवि, 1
8 पृ 346 रवि, 4
9 पृ 858 रवि, 4
10 पृ 858 रवि, 1
11 पृ 858 रवि, 1
12 पृ 1106 रवि 1,
13, पृ 875 रवि, 1

अपना दरबारी बना कर धीरे धीरे 'माथे छत्र धरै' ।[1] वस्तुत ससार मे अन्य कोई नही, केवल 'एक मुकुद करै उपकारु'[2] हैं। एक मात्र भवतारक या भक्त-उद्धारक उसे ही कहा जा सकता है। क्योकि वही तो 'नीचहु ऊच करै'[3] उसी की कृपा का ही तो परिणाम है कि 'नामदेव कबीरु तिलोचन सधना सैंनु तरै'।[4] ये तो भक्त थे। यहा तो 'अजामलु पिंगुला जले 'दुरमति निमतरै इसलिए तू किउ न तरहि रविदास।'[5] इसीलिए तो 'जाति ओछा पाति ओछा', 'जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे वधु करहि एस कुल के 'परसीध कबीरा तथा 'जाके कुटु ब क ढढ सभ ढोर ढोवत फिरहि अजहु बनारसी आस पासा' ऐसे 'रविदास दासान दासा'[6] सबका वह पार लगाने वाला है। इसीलिए एक-मात्र उसी की शरण मे जाना चाहिए 'बिनु रघुनाथ सरनि का की लीजै'[7] यही है, रैंदास के सगुण निराकार ब्रह्म की एक झलक। इस प्रकार रैंदास जब उस समझने समझाने से थक गया, तो यह कहता हुआ अपनी हार स्वीकार कर शात हो गया—'जसो तसा तुही किआ उपमा दीजै'।[8] इस प्रकार वह तो केवल अनुभूतिगम्य है।

सृष्टि—

एक ही एक अनेक होई बिसथरिओ आन रे आन भरपूरी सोई।[9]

सष्टि कब, कहा, कैसे, किस काम म आविभू त हुइ इस विषय में रदास ने विस्तार से कुछ भी वणन न करत हुए उसे ब्रह्म का प्रसार या विस्तार माना है। तथा 'जा दीस सो होई बिनासा'[10]। दश्यमान सभी कुछ नश्वर है, अत 'जैसा रगु कुसुम का तसा इहु ससारु'[11] फूल के शीघ्र ही उड जाने वाले रग के समान इस ससार को क्षणिक बताया गया है। इतना ही नहीं उसके विचार से तो ससार सत्य भी नही, उसकी तो केवल 'राज भुइअग (रज्जु-सर्प) के समान प्रतीति होती है।[12] सम्भवत इसीलिए सासारिक सम्पत्ति

1 पृ 1106 रवि, 1
2 पृ 875 रवि, 1
3 पृ 1106 रवि, 1
4 पृ 1106 रवि, 1
5 पृ 1124 रवि, 1
6 पृ 1293 रवि 1
7 पृ 710 रवि, 1
8 पृ 858 रवि, 1
9 पृ 1293 रवि, 2
10 पृ 1167 रवि 1
11 पृ 346 रवि, 1
12 पृ 658 रवि 1

बेकार है। जो ससार ही असत्य एव क्षणिक है, उसकी सम्पत्ति से ही क्या मोह ?

'ऊचे मन्दर साल रसोई एक घरि पुनि रहनु न होई।[1]

जब क्षण भर भी उसने रहना ही नही, तो 'नाम बिना ऊचे मन्दिर सु दर नारी[2] सभी कुछ व्यर्थ हैं' इसीलिए शारीरिक कष्ट सहन कर इनको एकत्रित करना भी उचित नही, क्योकि 'जोई जोई जोरिओ सोई सोई फाटिओ[3] और ससार का यह व्यापार तो है ही झूठा 'झूठ बनजि उठि ही गई हाटिओ।[4] इसीलिए जत देखउ तत दुख का रासी,[5] यह ससार दुखो का घर मात्र ही है अत हे जीव! चेतसि नाही दुनिया फनखाने[6] इस नश्वर अस्थिर असत्य एव दुखराशि ससार को देखकर भी तू सतर्क नही होता। जीवनगत सत्य को पहचान और 'नाम-स्मरण' कर इस लौकिक जीवन को सफल बना।

इसीलिए सामान्य जीव की तो ठीक वही स्थिति है—'जैसे कुरक नही पाइओ भेदु। तनि सुगध ढूढ प्रदेसु।[7] जो अन्तर म स्थित कस्तूरी को न पहचानने वाले मृग की होती है क्योकि वही तो सब घट भीतरि हाटु चलावै[8] अन्त करण म बैठ सब जीवो को नियन्त्रित करता है। दोनो के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए रविदास ने कहा है 'सोई मुकुन्द हमरा पित माता[9] इतना ही नही, वही 'मुकुन्द हमारे प्राण। सामान्य जीव का तो ब्रह्म से इतना ही सम्बन्ध स्थापित किया गया है, अत देह पर विचार करना भी आवश्यक है। आखिर यह देह है क्या ?—

जल की भीति पवन का थमा रकत बून्द का गारा।
हाड मास नाडी को पिजरु पखी बसै बिचारा।।[10]

इस तरवर म आत्मा रूपी पखी रहता है। 'साढे तीनि हाथ तेरी सीवा लेकिन यह भी तो स्थिर नहीं, समय पाकर इहु तनु होइगा भसम की ढेरी इस लिए इसके बाह्य[11] सौन्दर्य पर 'तू काइ गरबहि बावली' गर्वित होना बेकार है। क्योकि है तो यह 'माटी का पुतरा[3] ही, जो बना है जग 'धाग की

1 पृ 794 रवि, 3
2 पृ 659 रवि 6
3 पृ 1293 रवि, 3
4 पृ 1293 रवि 3
5 पृ 710 रवि 1
6 पृ 794 रवि 2
7 पृ 1196 रवि 1
8 पृ 794 रवि 2
9 पृ 875 रवि 1
10 11 पृ 659 रवि, 6
12 पृ 487 रवि, 6

टाटी। जसि गइआ घासु रलि गइआ माटी।'[1] अत 'भादो की खूम्म'[2] की तरह क्षणिक इसका विश्वास नहीं करना चाहिए। इन सबसे यह तात्पय नहीं कि देह बेकार है, बल्कि उसका एक निश्चित काय है तथा उसकी क्षणिकता अपने उस उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सतक करती है क्योंकि देह ससार म व्यापारी के एक बैल का बाध करती है—'हउ बनराजा राम का सहज करउ व्यापार'[3]। सो देह तो राम के नाम के व्यापार का साधन मात्र है, जिसकी सफलता 'नाम का भार' लादने म ही है।[4] अत 'मेरे रमईए रगु मजीठ का'[5] नाम का पक्का रग चाहिए, जो उतरे नहीं। इतना ही नहीं, कुरग-कस्तूरीवत, देह म ही ब्रह्मा की स्थिति है, केवल उसे अनुभव करने की आवश्यकता है।[6] अत माटी के पुतरे का भी अपना विशेष महत्त्व है। क्षणिक देह के कारण सासारिक सबधो मे सत्य का अभाव अनुभव करते हुए रविदास ने कहा कि अन्य सम्बन्धियो की तो बात ही क्या—मत्यु हो जाने पर जो 'घर की नारि नितहि तन लागी'[7] है, 'आई भी लाग काढु सवेरा'[8] और देर होने पर' उह तउ भूतु भूतु करि भागी।[9] वह अवर्धायनी भी उसी देह को भूत समझ कर उससे दूर भागना प्रारम्भ कर देती है। यह है विधि की विडम्बना या जीवनगत सत्य। और जीवन क्या है? 'तै जीवनु जगि सचु करि जाना,'[10] मानव जीवन एक सत्य है लेकिन उसकी सच्चाई भी सासारिक सम्पत्ति एकत्रित करने या विषयोपभोग करने म नहीं, अपितु 'हिरदै नामु सम्हारि'[11] म निहित है, क्योंकि विलम्ब करने का अवसर नहीं, 'जनमु सिरानो पथु न सवारा। साझ परी दहदिस अधियारा।'[12] युवावस्था व्यतीत होने पर, असमथ जरा आ जाने पर तृष्णा समाप्त न होगी और भगवद भक्ति म मानव सलग्न न हो पायगा। अत जीवन की सार्थकता एव सफलता इसी मे है कि सामथ्य होते हुए भी 'अविलम्ब नाम स्मरण' करते हुए दुलभ मानव जीवन का अधिक से अधिक सदुपयोग करना चाहिए।[13] क्योंकि यह 'दुलभ जनमु पुन फल पाइओ'[14] है अत इसे व्यथ गवाना बुद्धिमत्ता नही।

---

1 प 794 रवि, 3
2 प 1196 रवि 1
3 प 346 रवि, 1
4 प 346 रवि, 1
5 प 346 रवि, 1
6 प 1166 रवि, 1
7 8 प 794 रवि, 3
9 पृ 794 रवि, 3
10 11 प 794 रवि 2
12 प 794 रवि, 2
13 पृ 486 रवि, 1
14 प 568 रवि 3

साधु भक्त एव सन्त की कोटि तक पहुचता हुआ जीव अपने विशेष गुणो को उन्भासित कर सका है। इस प्रकार उसका भगवान से सम्बन्ध सामान्य जीवो की अपेक्षा कही अधिक निकट का होता है। साधु इसलिए महान है क्योंकि साध सगति बिनु भाव नही उपजै[1] और 'भाव बिनु भगति न होइ तेरी'[2]। इतना ही नही भक्त का तो नाम गाव ठाकु तथा कुटुम्ब सभी कुछ धन्य है[3] और वही एक मात्र सौभाग्यशाली है।[4] इसीलिए निर्लिप्त भक्त की सासारिकों से तुलना करते हुए कहा है, 'पडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरी अउरू न कोई'।[5] क्योंकि वही तो 'पुरन पात रहै जल समीप।[6] इसीलिए वस्तुत जनमे जगि आई।[7] क्योंकि 'मोह पटल सभु जगतु बिआपिआ भी भगत नही सतापा[8] और ऐसे भक्त से भी आगे बढने वाला सन्त तो 'सतिगुर गियान जान, तथा 'देवादेव' है।[9] अत ससार मे सत आचरण सत चो मारगु[10] ही अनुकरणीय है, क्योंकि सत अनतहि अतरू नाही, ।[11] यही है सत का भगवान से निकटम सम्बन्ध और सत शिरोमणी कबीर की उक्ति प्रसिद्ध है कि सतनि मे रविदास सत हैं।' अत उनका ब्रह्म से क्या व्यक्तिगत सम्बन्ध है ? यह देखना भी आवश्यक है।

'सोई मुकुन्द हमारा पित माता[12] और प्राण भी है। यद्यपि 'जाती ओछी पाती ओछी ओछा जनम हमारा'[13] है और वह 'जाति विखिआत चमार'[14] है तो भी हमारा उत्पादक महान है। इसीलिए कोई भी तो हमसरि दीनु' और 'दइआलु न तुम सरि[15] नही है और हम अउगुन तुम्ह उपकारी हो[16] क्योंकि तम रमिअत हो जगत गुर सुआमी और 'हम कल्पियत कलियुग के कामी।[17] रविदास उदास है, क्योंकि उसमे प्रेम भगति नही ऊपज[18] लेकिन धीरे धीरे रविदास को अपने बाजीगर 'सउ प्रीती बनि आई।[19] तब उसी की प्रम की जेवरी[20] से बधा हुआ रविदास कहता है हे भगवान ! तुम्हहि चरन अरविन्द भवन मन[21] लेकिन भगवान तक उसकी आवाज पहुची कहा ? इसीलिए और

1 2	प 694 रवि 2		3 पृ	858 रवि, 2
4	प 1106 रवि 2		5 प	858 रवि 2
6 7	पृ 858 रवि 2		8 पृ	658 रवि, 1
9 10 11	प 486 रवि 2		12 पृ	875 रवि, 1
13	प 486 रवि 3		14 प	1293 रवि, 1
15	प 694 रवि 1		16 प	486 रवि, 3
17	पृ 710 रवि, 1		18 प	346 रवि, 5
19 20 21	पृ 487 रवि, 4			

तेजी से पुकारता है, 'साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी' और सच कहता हू भगवान्। 'तुम सिउ जोरि अवर सग तोरी।'[1] और इस प्रकार 'कहि रविदास सरनि प्रभ तेरी' क्योकि उसे इस बात का ज्ञान है कि दुरमति 'अजामलु पिगला आदि उसकी शरण म गए और 'ऐसे दुरमति निसतरे' तो 'तू किउ न तरहि रविदास।'[3] इसलिए उसने तो सब इन्द्रियो के माध्यम से पूण आत्म समपण कर दिया है—

चित सिमुरनु करउ नैन अविलोकनो मुवन वानी सुजसु पुरि राखउ
मन सु मधुकरू करउ चरन हिरदे धरउ रसन अमृत सम नाम भाखउ।।[4]

क्योकि रविदास ने अनुभव कर लिया है कि 'बहुत जनम बिछुरे थ माधउ' लेकिन 'इहु जनमु तुम्हारे लेखे।'[5] अत भगवान ससार को छोड तुम मे अन य, सच्ची एव सर्वांगी प्रीति लगा कर सम्पूण देह से तुम से ही सम्बन्ध जोड कर पूण आत्मसमपण करने के बाद भी तुम 'कारन कवन अबोल'[6]। इतना सब होने पर भी जब दयालु और उद्धारक भगवान न पसीजे तो जानत मैं किछु नही भवखडन राम।[7] यह कह अपना सम्पूण 'अह' विलीन कर रविदास अन य भक्ति मे लग गए और जीवन के अतिम भाग मे उसके 'गरीब निवाजु' एव उद्धारक गुणो की सार्थकता अनुभव करके बोले—'नीचहु ऊच कर मेरो गोबिन्दु काहु ते न डरै'[8] और इसी के प्रमाण स्वरूप उस गरीब निवाज गुसईया' ने मेरा माथ छत्रु धरै'[9] इस प्रकार अब मेरी 'तुसना चूकी' और उसने 'करि किरपा लीने कीट दास'[10] तथा इन सबसे बढ कर 'मेटी जाती' और 'हूए दरबारि'।[11] तब भी वह इस सम्बन्ध को भूलता नही कि—

तुम चन्दन हम इरड बापुरे सगि तुमारे बासा।
नीज रुख ते ऊच भए हैं गध सुगध निवासा।[12]

क्योकि भगवान् तो किसी विशेष की बपौती सम्पत्ति नही, वह तो

---

1 पृ 659 रवि, 5
2 पृ 793 रवि, 1
3 प 1124 रवि, 1
4 पृ 694 रवि 2
5 प 694 रवि 1
6 प 694 रवि, 1,
7 पृ 858 रवि, 1
8 पृ 1106 रवि, 1
9 पृ 1106 रवि, 1
10 11 पृ 875 रवि, 1
12 पृ 486 रवि, 3

प्रत्येक भक्त की सामान्य सम्पत्ति है।[1] अत माया (मोह और ममता) से बांधने वाले भगवान् से भक्त रविदास आराधना करके छूट गया और अब उसने प्रेम से भगवान को इतनी दृढ़ता से बांध लिया है कि उसे छूटने के लिए ललकारता है—

> जउ हम बाधे माह फास हम प्रम बधनि तुम बाधे।
> अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे॥[2]

रविदास के ललकारे हुए भगवान ने नामदेव के सम्मुख आकर भक्त से छूटने की अपनी असमर्थता का इन शब्दो मे स्वीकार किया—

> "मेरी बाधी भगतु छडावै बाधे भगतु न छूटै मोहि।
> एक समै मोकउ गहि बाधे तउ फुनि मोपै जवाबु न होइ॥[3]
> इसीलिए तो—
> मैं गुन बध सगल की जीवनि मेरी जीवनि मेरे दास।
> नाम देव जाके जीअ ऐसी तैसो ताके प्रेम पगास॥[4]

इसीलिए तो इस भगवान को सूर मे बालकृष्ण तथा तुलसी मे आदर्श राम के रूप मे अवतरित होना पड़ा। कितनी शक्ति है भक्त की भक्ति मे— जिससे निर्गुण निराकार ब्रह्म को सगुण निराकार ही नही, सगुण-साकार रूप भी धारण करना पडता है। इस शक्ति को अनुभव करने पर ही तो अतर उद्भासित ब्रह्म' भक्त बोल उठता है, 'जब हम होते तब तू नाही' और जब तू ही मैं नाही। ठीक उसी प्रकार 'अनल अगम जैसे लहरि महोदधि जल केवल जल माही।[5] और तब ब्रह्म मे ही 'विलीन ब्रह्म भक्त इस सम्बन्ध को और स्पष्ट करता है तथा इस प्रतीत होने वाले अतर को एक 'आभास-मात्र ही कहता है, क्योंकि ऐसी स्थिति पर पहुचने के बाद दोनो मे कोई अन्तर रह नही जाता। वस्तुत वह पहले से ही, होता ही नही, केवल उसका आभास ही है—

> 'तोही मोही मोही तोही अतरू कैसा।
> कनक कटिक जल तरग जसा।'[6]

यही है भक्त रविदास की भगवान से सम्बन्ध की एक झलक।

---

1 2 पृ 658 रवि, 2
3 प 1252 नामदेव 3 — 4 प 657 रवि 1
5 प 93 रवि 1

जगु लूटिग्रा'[1] उससे सदा के लिए बचना चाहता है 'जम फासा से निकल कर 'जम मिउ नहो कामा[4]- रखने मे विश्वासी है। इस प्रकार यम से कोई सम्ब ध न रखने का मतलब है 'तउ जग ज म सकट नही ग्राइग्रा[3] और यह भी सम्भव है, जब वह 'ज म ज म के काटे कागर[4] ज म ज म के ब धनो स छुटकारा मिलने पर ही ग्रयोनि होते हुए उसे कभी भी जोनि न काग्रु।'[5] तब परमगति पाकर[6] ग्रमरपद[7] उसका साध्य बन जाता है। इस अवस्था मे भी वह क्या करे ? ग्रतर की पुकार सुनाई देती है 'ग्रह्मा रसपान[8] ग्रनन्त काल तक यह ग्रवस्था भी सहन नहीं ग्रत साध्या के भी साध्य ग्र तिम पूण ऐक्य म ही वह पूण विश्वासी है क्योकि तरग-जलवत ग्रात्मा परमात्मा मे कोई ग्र तर तो है ही नहो ?[9] जब 'सो मुनि मन की दुविधा[10] खाई, तभी मन को शाति मिलती है। क्योकि यह द्वैत तब समाप्त होता है जब फलु नागा तब फूल बिलाइ[11] ग्रौर जीव बिनु दुग्रारे लोक समाई ।[12] यही है सत का व्यक्तित्व ग्रौर उसका ग्रन्त मे विलीनीकरण क्योकि 'सत ग्रनतहिग्रतरू नाही ।'[13]

इस साधन साध्य विकास क्रम में चमार रविदास ग्रपने 'भक्त व्यक्तित्व[14] के माध्यम से सत रविदास बना है, यह भुलाया नहीं जा सकता। सम्भवत इसीलिए प्रबलतम साधन भक्ति, साधन होते हुए भी साध्य क स्तर तक पहुच जाती है और 'भगति हेति गावै रदासा[15] म उसकी ग्रात्मा गू जती सुनाई पडती है तथा इस भक्ति का प्राण है सतिनामु'। इसलिए भगवान की ग्रारती के भोगस्वरूप उसने मागा है सतिनामु है हरि भोग तुहारे।[16] इस प्रकार साधन का साधन 'नाम ही साध्य बन गया है। इस नाम म ग्रनवरत तल्लीनता ही तो रविदास के भी भक्त रूप को उभारती है।

---

1 पृ 794 रवि, 3
2 प 659 रवि, 7
3 प 487 रवि, 5
4 प 1196 रवि, 1
5 प 1293 रवि, 3
6 प 1124 रवि 1
7 प 858 रवि, 2
8 प 93 रवि 1
9 प 1167 रवि 1
10 पृ 1167 रवि, 1
11 12 प 1167 रवि 1
13 प 486 रवि 2
14 प 659 रवि, 5
15 प 694 रवि 3
16 पृ 858 रवि 1

साध्य प्राप्ति के साधन भी अनन्त हैं। भक्त की साधना-पद्धति को समझने के लिए उन पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। सत शकर की तरह दार्शनिक या ज्ञानी नही थे। उन्हें अपनी तर्क-शक्ति अथवा मस्तिष्क से अधिक अपने हृदय पर तथा भगवत्कृपा पर विश्वास था, क्योंकि पवित्र अत करण से नि सृत प्रत्येक ध्वनि क्रन्दन होती है, उसका आधार अनुभूति होता है। अत भगवत्प्राप्ति का सर्वप्रधान साधन है—भगवत्कृपा। दरिद्र रविदास ने तो भगवत्कृपा से ही अठारह सिद्धियां प्राप्त की हैं।[1] इसलिए वह कहता है, 'सुनहु रे सतहु हरि जीउ ते सभै सरै।'[2] उसकी कृपा से सब कुछ प्राप्त होता है। उसकी कृपा प्राप्त करने का प्रधानतम साधन है भक्ति। षट कर्म, सत्कुल मे जन्म आदि सभी कुछ व्यर्थ है, यदि 'हरि भक्ति हिरदै नाहि।'[3] मानव जीवन ही नहीं अपितु 'राजे इन्द्र समसरि, गृह आसन बिनु हरि भगति कहहु किह लेखे।'[4] इतना ही नही, यह भी भक्ति की ही शक्ति है, गगा म पडी हुई शराब भी जिस प्रकार गगोदक बन कर पवित्र हो जाती है, उसी प्रकार भगवद्भक्ति-लिखित हेय ताडपत्र भी वन्द्य हो जाता है। इस भक्ति से ही 'होहि पुनीत भगवद भजन तथा 'ते आपु तारि तारे कुल दोइ।[5] इसीलिए ससार मे वे दुखी है जिनि नाह निरतरि भगति न कीनी।[6] क्योंकि इस 'भगति जुगति से ही 'भ्रम बधन काटि विकार'[7]। अत यह तो निश्चित हो गया कि भव पार पहुचने के लिए ब्रह्म से ऐक्य स्थापित करने क लिए भक्ति का आश्रय लेना नितात आवश्यक है। उस भक्ति का स्वरूप क्या होना चाहिए। आडम्बरपूर्ण बाह्य सामग्री नही, वहा तो आतरिक भाव (लगन) की आवश्यकता है, क्योंकि 'भाव बिनु भगति न होई तेरी'[8] और उस भाव मे भी चाहिए भगवत्प्रेम। क्योंकि—

प्रेम भगति कै कारणै कहु रविदास चमार[9]
लेकिन—प्रेम भक्ति कै नहीं उपजै ताते रविदास उदास।[10]

---

1 पृ 1106 रवि 1
2 प 1124 रवि, 1
3 प 658 रवि, 3
4 प 1293 रवि 1
5 प 858 रवि 2
6 प 1293 रवि, 1
7 प 346 रवि, 5
8 प 694 रवि, 2
9 प 346 रवि, 4
10 पृ 346 रवि, 5

इस 'प्रेम भक्ति' के लिए भगवान का भय चाहिए और चाहिए उसमें दृढ़ विश्वास, इससे भगवत्प्रेम जागृत हो सकेगा और जीव उसके प्रेम की जवरी[1] में बंध सकेगा। तब प्रेम के लिए तड़पन पैदा होगी, वह तड़पन कैसी होगी? यह कोई ही जानता है, क्योंकि—

सो कत जानै पीर पराई, जाके अंतरि दरदु न पाई।[2]

उसकी अभिव्यक्ति के लिए ही तो भगवत्विरह अनुभूत भक्त ने तीव्र विरहानुभूति के बहुत ही प्रसिद्ध लौकिक उदाहरण इन सुन्दर शब्द चित्रों के माध्यम से उत्कृष्ट काव्य में अंकित किए हैं, जिसे उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे—

'जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा
जउ तुम चद तउ हम भए है चकोरा।[3]

और हम तुमसे प्रेम का 'गठ-बंधन' तोड़ते भी नहीं, क्योंकि—'तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहि।[4] इसीलिए 'जउ तुम दीपक तउ हम बाती। जउ तुम तीरथ तउ हम जाती।[1] और अब तो 'साची प्रीती हम तुम सिउ जोरी। तुम सिउ जोरी अवर संग तोरी।[5] यह 'अवर' माया से उत्पन्न सांसारिक मोह ममता से इतर कोई नहीं। इसलिए—

जह जह जाउ तहा तेरी सेवा, तुम सो ठाकरु अउरु न देवा।[6]

अब तक रविदास सगुण से निराकार के उपासक बन चुके थे और यह उनके अगाध भगवत्प्रेम तथा अनन्य तड़पन की ही अभिव्यक्ति है। यह अनन्यता कैसी होनी चाहिए?—

तेरे चरण कमल मे न लीन[7] करके पुन तनु मनु देइ न अंतरु राखै[8] अपने भगवान से कोई भेद न रखे तथा अवरा देखि न सुनि न भाखै।'[9] इस प्रकार के तुमरे भजन कटहि जम फासा।[10] इसीलिए तो भगति हेति गावै रैदासा[11] यह है रविदास की पूर्ण अनन्यता का परिचय।

इस अनन्य भक्ति का आधार है नाम।[12] वह नामु नाराइन जो 'जीवन प्राण धन मोरे'[13] है। क्योंकि न केवल नामु तेरो आरती भजनु मुरारे[14]

---

1 पृ 486 रवि 4
2 पृ 793 रवि 1
3 पृ 658 रवि 5
4, 5 6 पृ 658 रवि, 5
7 पृ 487 रवि 4
8, 9 पृ 793 रवि, 1
10 11 पृ 659 रवि 5
12 13 पृ 974 रवि, 1
14 पृ 694 रवि, 3

अपितु 'हरि के नाम बिनु सगल पासारे।[1] और नाम है क्या नहीं—

"नामु तेरो आसनो नामु तेरो उरसा नामु तेरा केसरो ले छिटकारे।
नाम तेरा अम्भुला नाम तेरो चदनो।
धसि जपे नामु ले तुझहि कउ चारे ॥ १ ॥
'नाम तेरा दीवा नामु तेरो बाती नामु तेरो तेलु ले माहि पसारे।
नाम तेरे की जोति लगाई भइओ उजिआरो भवन सगलारे ॥ २ ॥
'नामु तेरो तागा नामु फूल माना भार अठारह सगल जूठारे।
तोरो कीआ तुझहि किआ अरपउ नामु तेरा तुही चवर ढोलारे।"। ३ ।
दसअठा अठसठे चारे खाणी इह वरतणि है सगल ससारे।
कहै रविदासु नामु तेरो आरती सतिनामु है हरि मोक्ष तुहारे। ४ ।[2]

आरती का भोग ही जो ठहरा वह नाम ही तो सवस्व है। सम्भवत इसी लिए नाम माग का अनुसरण करने वाले गुरु नानक भी इस आरती से प्रभावित हुए बिना न रह सके। अन्य भी सभी सतो की इससे मिलती जुलती आरती इस राग मे ही प्राप्त है। सारे ससार को यम से बधा हुआ देख कर 'हम तउ एक राम कहि छूटिआ[3] रविदास तो एक बार उसका नाम लेकर ही बच निकलता है, क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान था कि—'हरि के नाम कबीर उजागर[4] जिससे उसके तो 'जनम जनम के काटे कागर[5] और 'निमल नाम देउ पीआइआ, तउ जग जनम सकट नही आइआ।[6] इसीलिए जन रविदास राम रगि राता।'[7] जिसके परिणाम स्वरूप जाति विखिआत चमार को ही अब विप्र परधान तिहि करहि डडउति[8] लेकिन वह तो 'तेरे नाम सरनाइ रविदास दासा।[9] इतना ही नही, उसे यह भी पता है कि नामदेव कबीरु तिलोचनु साधना सैनु तरै[10] इसीलिए जनता को भी रविदास कहता है कि तुम राम का नाम क्यो नहीं लेते—

नाना खिआन पुरान वेद विधि चउतीस अछर माही।
बिआस विचारि कहिओ परमारथु राम नाम सरि नाही।[11]

जिस बात को वेदो आदि मे ज्ञाता व्यास ने कहा है, रविदास तो

1 पृ 694 रवि, 3 — 2 पृ 694 रवि, 3
3 पृ 794 रवि, 3 — 4 5 6 पृ 487 रवि 5
7 8 पृ 1293 रवि 1 — 9 पृ 1106 रवि, 1
10 पृ 1106 रवि, 1 — 11 पृ 1106 रवि, 2

प्रत्यक्ष अनुभव करके उसी बात को दोहरा मात्र रहा है। कोटिन अघरों में 'राम के ये दो अक्षर ही तो संसार में एक मात्र सार हैं'[1] और उनके समान दूसरा कोई आधार नहीं। इतना ही नहीं 'राम नाम बिनु बाचो हारी'[2] इसलिए हे जीव 'रसना अमृत नाम भाखउ'[3] क्योंकि 'कलि केवल नाम आधार'[4], कलियुग में तो नाम ही एक मात्र आधार है। इसीलिए 'तजीले सरब जंजाल'[5] यह अपना अनुभव बताता है कि 'मैं राम नाम धनु लादिआ बिखु लादि संसारि'[6] अत 'मोहि सम ढढ़ न लगाइ'[7] क्योंकि उनका 'धान करत पाइयो रामईया धनु'[8] और यह नाम ही तो इस संसार में एक मात्र आदर्श एवं प्राप्य धन है।

रविदास तो उस एक का ही नाम लेकर तर गया, लेकिन भव पार पहुँचने के लिए उस जप की आवश्यकता है। 'मुकुन्द मुकुंद जपहु संसार' क्योंकि 'मुकुन्द मुकुंद हमारे प्रान।'[9] इसलिए जीवन मकुंद मरन मुकुंद। मरते जीते उसी का जप करना चाहिए—इस प्रकार—

'चरण सहित जो जाप नामु।
और— सो जोगी केवल निहकामु।[10]
कहि रविदास जो जप नामु।
तिसु जाति न जनमु न जोनि कामु।[11]

तो भी अन्य सब वचनों को छोड़ कर हे जीव तू 'हरि हरि न जपसि रसना।'[12]

उद्धार का एक मात्र यही मार्ग है इसलिए—

हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरे।
हरि सिमरत जन गए निसतरि तेरे।[13]

भक्ति पथ के पथिक की पहली अवस्था जप की है, जिसमें ओष्ठ उच्चारण अपेक्षित है, लेकिन धीरे धीरे अभ्यास से वही सिमरन की अवस्था तक

---

1 पृ 658 रवि, 4
2 पृ 659 रवि, 6
3 पृ 694 रवि 2
4 पृ 346 रवि, 5
5 पृ 346 रवि, 3
6 पृ 486 रवि, 4
7 पृ 346 रवि, 3
8 पृ 486 रवि, 4
9 पृ 875 रवि 1
10 पृ 1167 रवि, 1
11 पृ 1196 रवि, 1
12 पृ 1106 रवि, 2
13 पृ 487 रवि, 4

पहुँच जाता है, जहां कि उच्चारण मुख मे ही होता है और मन को भगवान से जोडा जाता है तथा सिमरन के चरम तक पहुँचते पहुँचते ध्यानावस्था आ जाती है। इस प्रकार नाम तथा अनन्य भक्ति-पथ के ही ये विशिष्ट पद चिन्ह हैं, जो साधन के भी साधन होते हुए अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इस ध्यान के लिए आवश्यक है कि उस चचल मन को वश मे किया जाए, तो 'मनु माइआ के हाथ बिकाने'[1] तथा उस माया के हाथ बिकने के कारण ही मेरा मनु बिखिआ बिमोहिआ'[2] और इसे 'कछु आर पारु न सूझै।'[3] लेकिन मन का विशेष महत्त्व है, क्योकि—

विखु अमृतु बसहि इकि सगा।[4]

यह विष और अमृत और कुछ नही अन्तमन की दो अवस्थाए मात्र हैं। यदि मन विकृत हो गया है, तो वही विष रूप विषयो से पूर्ण है और यदि मन सुकृत है तो वही अमृत रूप भक्ति (नाम) से पूर्ण है। अत विष और अमृत का निवास स्थान भिन्न नही। हा! विष को ही अमृत और अमृत को विष म परिणित किया जा सकता है। इसलिए मन को वश म करना आवश्यक है, जिसके कई साधन हैं, जिनम प्रमुख है, सतसग। सतसगति का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि 'साध सगति बिना भाउ नही उपजै'[5] और 'भाव बिनु भगति न होई तेरी।'[6] इससे भी बढ कर इस 'साध सगति पाई परम गत।'[7] सगति से ही परमगति प्राप्त हुई।

सतसगति के साथ-साथ निष्काम कर्मण्य-जीवन का महत्त्व भी नही भुलाया जा सकता। यद्यपि वह खुद 'चमरटा गाठि न जनई' तो भी लोग 'लोगु गठावै पनही'[8] इतने बडे सत न अपना काम न छोडा, जुलाहा कबीर ताना बुनता रहा गुरु नानक जीवन में लगभग अतिम दिनो तक खेती करता रहा। इन सतो के उपदेश व्यक्तिगत जीवन के उदाहरणो स क्रियात्मक रग मे रगे गए थे, अत समाज पर भी एक विशेष पक्का मजीठ का रग चढाने वाल सिद्ध हुए। निष्काम सत्कम की बो वे अन्त तक प्रेरणा देते रहे। आलसी जीव को सतर्क करते हुए 'ग्रथ' मे उनकी अतिम दो पक्तिया इस प्रकार हैं—

कहु रविदास भइओ जब लेखो। जोई जोई कीनो साई सोई देखिओ।[9]

---

1 पृ 710 रवि 1
2 3 पृ 346 रवि, 1
4 पृ 525 रवि, 1
5 6 प 694 रवि, 2
7 प 1293 रवि, 3
8 प 659 रवि 7
9 प 1293 रवि, 3

कर्मानुकूल ही फल प्राप्ति होती है। अत जीव के सत्कर्म उसे भगवतोन्मुख सहायक सिद्ध हुए हैं। जहां सत्कर्म भक्ति को पुष्ट करता है, वहां ज्ञान दृढ़ सम्बल के रूप में उसका आधार बनता है। क्योंकि 'गिआनै कारन करम अभिआगु।'[1] और जब 'गिआन अदपा तह करमह लागु।'[2] तथा इस गिआनु के स्वरूप को स्पष्ट किया है 'रवि प्रगास रजनी जथा'[3] कह कर और उसी ही 'उपजिओ गिआनु हूआ परगासु'[4] इस प्रकार ज्ञान का प्रकाश ही भक्ति के पथ को आलोकित करता है।

सत्कर्म की ही आध्यात्मिक क्षेत्र में परिणति है सेवा। सेवा को रविदास की *साधना-पद्धति में विशेष स्थान माना गया है* और *'अष्टांग-साधन'* नाम की विशेष साधना-पद्धति को उनकी साधना पद्धति कहा भी जाता है।[5] रविदास को दुःख है कि वह भगवान की सेवा न कर सका 'राजाराम कह सेव न कीनी कह रविदास चमारा।'[6] यह तो सेवक की विनम्र उक्ति है। वस्तुतः उनने सम्पूर्ण सर्वांगी सेवा का सुन्दर रूप संक्षेप में इस प्रकार हमारे सामने रखा है—

चित सिमरनु करउ नैन अविलोकनो स्रवन बानी सुजसु पूरि राखउ।
मनु सु मधुकरु करउ चरन हिरदे धरउ रसन अमृत राम नाम भाखउ।[7]

सत्य को कुरेद कर उसका सौन्दर्य नष्ट करने की क्षमता हम में नहीं क्योंकि गागर में सागर डाली में कही गई यह बात सम्भवतः इससे अच्छे ढंग से कही ही नहीं जा सकती है। जो हो इसी सेवा के लिए रविदास ने कहा है—
सेव मुकुंद करै बैरागी।[8]

सेवा के साथ साथ भक्त की प्रार्थना में भी विशेष शक्ति होती है। आरती में तो नाम को ही सर्वस्व बता कर भोग के रूप उस नाम की ही याचना की है।[9] पुनः, मेरी हरहु बिपति[10] इतनी प्रार्थना की सुनाई हो जाने पर

---

1 2 पृ 1167 रवि, 5 — 3 पृ 346 रवि 5
4 पृ 875 रवि 1
5 उ प च प 245 संत रविदास और उनका काव्य रामानन्द शास्त्री वीरेन्द्र पाण्डेय।
6 पृ 486 रवि, 3
7 पृ 694 रवि, 2 — 8 पृ 875 रवि, 1
9 विस्तृत विवरण नाम शीर्षक में देखें। — 10 पृ 346 रवि 3

'पत राखहु राजा राम मेरी'[1] यह प्रार्थना भी राम (दशरथ पुत्र नहीं) के दरबार में जा पहुंचा और फिर 'मोहो न बिसारहु मैं जनु तेरा।'[2] अब तक तो सम्बन्ध ही घनिष्ट हो चुका फिर राम क्यों कर बिसारने लगा। इसी प्रार्थना में उसने यह भी बता दिया कि भगवन् तेरी पूजा अर्चना बिना मेरी गति नहीं।[3] लेकिन यह भक्ता आडम्बरमयी नहीं। उसकी दीन प्रार्थना ने भगवान् को अवश्य ही पसीजने पर विवश कर दिया होगा, तभी तो गंगा माई ने भी उसकी सुपारी लेने के लिए हाथ बढाया होगा।[4] जो हो, रविदास की प्रार्थना में अद्भुत शक्ति थी, जिसमें कि उसका अहं पूर्णतया विगलित हो चुका था 'करि बंदगी छाडि मैं मेरा'[5] उसने पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था। क्योंकि उसे अनुभव है, कि—

सगल जीअ सरनागती पूरन प्रभु काम।[6]

इस लिए— 'कहि रविदास सरनि प्रभ तेरी।
जिउ जानऊ तिऊ करू गति मेरी॥'[7]

यही है भक्त के पूर्ण आत्म समर्पण की पराकाष्ठा, पार जाने वाले तीर के उस यात्री की तरह, जिसने मल्लाह को कह दिया—'मुझे तो तैरना आता नहीं, डुबाओ चाहे पार पहुंचाओ। मैंने तो अपने आपको तुम्हें सौंप दिया। कितनी अबोधता और सरलता है तथा है अगाध विश्वास। लेकिन भक्त की सब साधनाएँ अपूर्ण हैं—जब तक संयोजक सद्गुरू भक्त को उस मार्ग का ज्ञान ही नहीं कराता अपितु मार्ग दिखाकर उस पर चलाता नहीं। गाडी, डिब्बे हैं, इंजन है—उसमें इंधन है पटरियां भी साफ हैं, सिगनल भी चले जाने की सूचना दे रहा है, लेकिन चालक के अभाव में गाडी बेकार है। गुरू नहीं, सद्गुरू के अभाव से भक्त (जीव) बेकार है। संत साहित्य में सद्गुरू का विशेष स्थान है। वही जीव का ब्रह्म की अद्वितीय देन है। सगुण के साकार अवतारों से भी उसका महत्त्व अधिक स्वीकार किया गया है। जो हो, रविदास ने सम्भव में ही इस विषय में बहुत कुछ कह दिया। जगत भ्रम में फंसा होने के कारण रविदास उदास है और भक्त भयहारक गुरू ने ही उसकी रक्षा की।

---

1 पृ 694 रवि 2
2 पृ 345 रवि, 1
3 पृ 525 रवि, 1
4 किंवदंती, संत रविदास और उनका काव्य पृ 153
5 पृ 794 रवि, 2
6 पृ 858 रवि, 1
7 पृ 793 रवि 1

कर्मानुकूल ही फल प्राप्ति होती है। पर जीव के सम्बन्ध उस भगवदोन्मुख साधक सिद्ध हुए हैं। जहाँ सत्संग भक्ति को पुष्ट करता है वहाँ ज्ञान के माध्यम के रूप में उसका आधार बनता है। क्योंकि 'गियाने कारन करम अभिमानु।'[1] और जब 'गियानु भइया तउ करमहु नासु।'[2] तथा इस गियानु के स्वरूप को स्पष्ट किया है 'रवि प्रगास रजनी जथा'[3] गत घर और ऐसे ही 'उपजिओ गिआनु हुआ परगासु'[4] इस प्रकार ज्ञान का प्रकाश ही भक्ति के पथ को आलोकित करता है।

सत्संग को ही आध्यात्मिक क्षेत्र में परिणति है सेवा। सेवा को रविदास की साधना-पद्धति में विशेष स्थान माना गया है और 'अष्टांग-साधन' नाम की विशेष साधना पद्धति को उनकी साधना पद्धति कहा भी जाता है।[5] रविदास को दुःख है कि वह भगवान् की सेवा न कर सका 'राजाराम कउ सेव न कीनी कहु रविदास चमारा।'[6] यह तो सेवक की विनम्र उक्ति है। वस्तुतः उनके सम्पूर्ण सर्वांगी सेवा का सुन्दर रूप सक्षेप में इस प्रकार हमारे सामने रखा है—

चित सिमरनु करउ नैन अविलोकनो स्रवन बानी सुजसु पूरि राखउ।
मनु सु मधुकरु करउ चरन हिरदे धरउ रसन अमृत राम नाम भाखउ।[7]

सेवा को परिवेद कर उसका सौंदर्य नष्ट करने की क्षमता हम में नहीं क्योंकि सागर में सागर धाली में कही गई यह बात सम्भवतः इससे अच्छे ढंग से कही ही नहीं जा सकती है। जो हो इसी सेवा के लिए रविदास ने कहा है—'सेव मुकुंद करै बैरागी।'[8]

सेवा के साथ साथ भक्त की प्रार्थना में भी विशेष दाक्ति होती है। आरती में तो नाम को ही सर्वस्व बता कर भोग के रूप उस नामु की ही याचना की है।[9] पुनः, मेरी हरहु बिपति[10] इतनी प्रार्थना की सुनाई हो जाने पर

---

1 2 प 1167 रवि, 5   3 पृ 346 रवि 5

4 प 875 रवि 1

5 उ प च प 245 सत रविदास और उनका काव्य रामानन्द वीरेन्द्र पाण्डेय।

6 प 486 रवि, 3

7 प 694 रवि, 2   8 प 875 रवि, 1

9 विस्तृत विवरण 'नाम' शीर्षक में देखें।   10 प 346 रवि 3

पैज राखहु राजा राम मेरी'[1] यह प्राथना भी राम (दशरथ पुत्र नहीं) के दरबार म जा पहुची और फिर 'मोही न बिसारहु मैं जनु तेरा।[2] अब तक तो सम्बन्ध ही घनिष्ट हो चुका फिर राम क्यों कर बिसारने लगा। इसी प्राथना मे उसने यह भी बता दिया कि भगवन् तेरी पूजा अचना बिना मरी गति नहीं।[3] लेकिन यह अचना आडम्बरमयी नही। उसकी दीन प्रायना ने भगवान को अवश्य ही पसीजने पर विवश कर दिया होगा, तभी तो गगा माई ने भी उसकी सुपारी लेने के लिए हाथ बढाया होगा।[4] जो हो, रविदास की प्राथना म अदभुत शक्ति थी, जिसम कि उसका अह पूणतया विगलित हो चुका था 'करि बदगी छाडि मैं मेरा'[5] उसने पूण आत्मसमपण कर दिया था। क्योंकि उसे अनुभव है, कि—

सगल जीअ सरनागती पूरन प्रभु काम।[6]

इस लिए— 'कहि रविदास सरनि प्रभ तेरी।
जिउ जानऊ तिऊ करु गति मेरी॥[7]

यही है भक्त के पूण आत्म समपण की पराकाष्ठा, पार जाने वाले तीर के उस यात्री की तरह जिसने मल्लाह का कह दिया— मुझे तो तरना आता नही डुबाओ चाहे पार पहुचाओ। मैंने तो अपने आपको तुम्हें सौंप दिया।' कितनी अबोधता और सरलता है तथा है अगाध विश्वास। लेकिन भक्त की सब साधनाएँ अपूण हैं—जब तक सयोजक सतगुरू भक्त को उस माग का ज्ञान हा नही कराता अपितु माग दिखाकर उस पर चलाता नही। गाडी, डिब्ब हैं, इजन है—उसमें ईंधन है पटरिया भी साफ हैं सिगनल भी चले जान की सूचना दे रहा है, लेकिन चालक के अभाव मे गाडी बेकार है। गुरू नही, सतगुरू के अभाव से भक्त (जीव) बेकार ह। सत साहित्य म सतगुरू का विशेष स्थान है। वही जीव को ब्रह्म की अद्वितीय देन है। सगुण के साकार अवतारा से भी उसका महत्व अधिक स्वीकार किया गया है। जो हो रविदास ने सक्षेप म ही इस विषय में बहुत कुछ कह दिया। जगत भ्रम म फसा होने के कारण रविदास उदास है और भक्त-भयहारक गुरू न ही उसका रक्षा की।

---

1 प 694 रवि 2
2 पृ 345 रवि, 1
3 प 525 रवि, 1
4 किंबदती सत रविदास और उनका काव्य प 153
5 प 794 रवि, 2
6 प 858 रवि, 1
7 प 793 रवि 1

प्रत वह गुरू-ज्ञान म ही लीन हो गया है।[1] उसका अनुभव कहता है कि सत्गुरू ही लोहे को सोना बनाने वाले पारस की तरह सामान्य जीव को भी उच्चकोटि का भक्त बना देता है[2] और इन सबसे बड़ कर 'गुरप्रसादि निरजन् पावउ[3], यही उसका अन्तिम साध्य है और उसका प्रथम तथा अन्तिम एक मात्र साधन है सत्गुरु। इस प्रकार सत्गुरू ही भक्त और भगवान की संगमभूमि है। सम्भवत इसीलिए उसका महत्व इन दोनो से भी अधिक स्वीकार किया है। इसी भाव के द्योतक साधु, सत आदियो का महत्व पीछ बताया जा चुका है, जिसमे 'सत अनतहि अन्तरु नाही,[4] से ही सत अथवा सत्गुरू का महत्त्व स्पष्ट है। यही है भक्त की भक्ति का साधन मार्ग।

अवरोधक शक्तियाँ—जिस प्रकार पहाडी झरने के मार्ग मे आने वाली प्रत्येक चट्टान अथवा पर्वत श्रृखला का विशेष महत्त्व होता है, ठीक उसी प्रकार भक्ति के प्रशस्त पथ मे भी अन्यान्य अवरोधक शक्तियाँ भक्त की परख के लिए सदा ही उपस्थित रहती हैं। सच्चे भक्त को ये अवरोधक शक्तियाँ सजग कर उसे और दृढ़तापूर्वक अपने पथ पर बढने का सदेश ही नही अपितु प्रेरणा भी देती हैं जब कि निर्बल, अनवत और आडम्बरी भक्त को वे दबोच लेती हैं क्योंकि—

> विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना।
> प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥ (भर्तृ हरि, नीतिशतक)

(विघ्नो से बार-बार सताए जाकर भी उत्तम पुरुष अपने कार्य को बीच मे नही छोडते) अत साध्य प्राप्ति मे आने वाली इन अवरोधक शक्तियो पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

माया ही एक मात्र ऐसी शक्ति है जिसने आत्मा और परमात्मा मे मध्य भेद की खाई खोद दी है और वह इसे भरने नही देती। यह माया सभु जगतु बिग्रापिग्रो[5] है और यही न केवल 'भ्रम का पासि' है, अपितु इसने तो 'मनु माइग्रा के हाथ बिकानउ है,[6] जिसने मानव मन को खरीद लिया है। माया

---

1 पृ 486 रवि 1
2 पृ 316 रवि, 5
3 पृ 525 रवि 1
4 पृ 486 रवि 1
5 पृ 486 रवि, 1
6 पृ 710 रवि, 1

के हाथ बिके हुए मन को 'बिन्निश्रा बिमोहिश्रा[1] तथा उसे कुछ आरा पार न सूझे।[2] जब उसे कुछ सूझता नहीं, तथा वह 'कहीअत आन अचरीअत आन कछु।[3] ऐसी अवस्था मे विषय लिप्त मन को सबल इन्द्रियां घेर लेती हैं क्योंकि 'इन्द्री सबल और निबल विवेक बुद्धि[4] और—

'इन पचन मेरो मनु जु बिगारिओ। तथा—
पलु पलु हरि जी ते अंतरु पारिओ।[5]

इस प्रकार अन्तर की इस खाई को पाटने वाली एक नहीं, सभी इन्द्रियां जो एकत्रित हो गई, वहां अकेला जीव बेचारा क्या करे ? क्योंकि 'मृग मीन भृंग पतंग कुंचर एक दोख बिनास।[6]

ये पांचों प्राणी एक ही इन्द्रिय दोष से प्रभावित होने के कारण प्राण तक खो बैठते हैं तो इन बेचारे जीव का क्या कहना ?

पंच दोख असाध जा महि ता की केतक आस।[7]

जीव इन पांचों दोषों से भरपूर है। संत साहित्य में काव्यत्व का अभाव देखने वालों को गागर में सागर ढाली का इससे उत्कृष्ट काव्यरत्न कहीं ढूंढने पर भी मिल सकेगा, इसमें हमें संदेह है। इन पांचों इन्द्रियों ने 'काम, क्रोध, माइआ, मद, मतसर इन पंचहु मिली लूटे'[8] इन पांचों दुर्गुणों के माध्यम से जीव को लूट लिया है। काम के प्रभाव से तो देवी-देवता भी न बच सके 'गौतम नारी उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहसा भव गामी।[9] इन्द्र अहिल्या पर और ब्रह्मा तो स्वयं अपनी पुत्री पर ही मोहित हो गए थे यह काम का ही सर्वव्यापी प्रभाव है। माटी का पुतरा, देह क्षणिक है, यह जानते हुए भी सांसारिक मोह को छोड़ नहीं पाता और 'पुत्र कलत्र को करहि अहंकारु।[10] कामिनी ही क्या ?

1—2 पृ 346 रवि, 1 3 पृ 658 रवि 3

4 पृ 658 रवि, 3 'इन्द्रियाणी प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। (देखो गीता 2 60) 5 पृ 710 रवि 1

6 पृ 486 रवि, 1 —

'ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।। क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।'

7 पृ 486 रवि, 1 8 पृ 974 रवि 1

9 पृ 710 रवि 1 10 पृ 1196 रवि 1

कचन, ससारिक सम्पत्ति भी जीव को भरमाए रहती है। यद्यपि 'ऊचे मदर साल रसोई। एक घरि पुनि रहणु न होई।[1] तो भी जीव सांसारिक सम्पत्ति एकत्रित करने म लगा ही रहता है। रविदास ने समझाया है—

जोई जोई जोरिग्रो सोई सोई फाटिग्रो।
झूठै वनजि उठि ही गई हाटिग्रो ॥[2]

और 'राम नाम बिनु यह सब सासारिक सम्पत्ति व्यथ है इसीलिए मनुष्य जीवन की बाजी हार जाता है।[3] इतना सब होते हुए भी जीव समार मे ही भरमाया रहता है। इन सासारिक पदार्थों के कारण जीव मे अहकार जागत हो जाता है—

हम बड कवि कुलीन हम पडित हम जोगी सनिग्रासी।
गिग्रानी गुनी सूर हम दाते इह बुधि कबहि न नासी ॥[4]

इस प्रकार इस 'अह' क उच्छलन के अन्यान्य कारण हैं। यह 'अह' जीव म अनेक प्रकार के स देह उत्पन्न कर देता है[5] और उसे भगवान उन्मुख होने म बाधा पहुचाता है। इसी लिए रविदास को कहना पडा—'करि बंदिगी छाडि मैं मेरा[6] 'अह' को त्याग कर ही भगवतान्मुख हुग्रा जा सकता है। गुरू नानक एव अन्य गुरुओ ने भी इस 'अह (हउमै) को ही सबस बडी अवरोधक शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। दुष्कम और दुगुण भी भगवत्प्राप्ति मे जीव के लिए बाधक सिद्ध होते हैं। रविदास ने अन्य दुगुणो को परनिन्दा एव साध निन्दा को विशेष रूप स भगवत प्राप्ति मे बाधक स्वीकार किया है और कहा है कि 68 तीर्थों का स्नान करने वाला भी यदि 'करै निंद तो 'सभ बिरथा जाव[7] साध का निन्दक किसी भी प्रकार तर नही सकता। बल्कि 'पापी नरकि निधारिग्रा[8] उस तो केवल नरक मे स्थान प्राप्त है। अन्य बडी अवरोधक शक्ति है बाह्याडबर। रविदास म कबीर की सी तीव्र कटुता नही, परन्तु उसके तीव्र मधुर व्यग्य भी कम ममस्पर्शी नही। दूध तो बछडा जूठा कर चुका है

---

1 प 794 रवि, 3
2 प 1293 रवि, 3
3 प 659 रवि 6
4 प 974 रवि 1
5 प 794 रवि, 2
6 प 346 रवि 5
7—8 पृ 875 रवि 2

ग्रौर 'फुनु मवरि' तया 'जलु मीनि विगरिग्रा'[1] तया—

धूप दीप नैईवेदहि वासा। कैसे पूज करहि तेरी दासा॥[2]

रविदास की समझ से बाहर है कि पवित्र भगवान की इन अपवित्र वस्तुग्रो से वह किस प्रकार पूजा करे। इसलिए वह ता तणु मणु ग्ररपउ पूज चरावउ[3] ग्रौर सभी 'गुर परसादि निरजनु पावउ।'[4] भगवान को पाने के लिए यह ग्राडम्बर पूर्ण पूजा सामग्री अपर्याप्त है। ग्रारती म हम देख ही ग्राए हैं कि फून माला, चदन, पवित्र जल, दीया, बत्ती, तेल ग्रौर चवर सभी कुछ तो उसके नाम म ही हैं ग्रौर 'नाम' ही एक मात्र ज्योति तथा 'हरि का भोग है।'[5] इतना ही नहीं 'ग्रठसठि तीरथ स्नान, 'दुग्रादस सिला पूजा, कूप तटा देवावै' 'ग्रहण करै कुलखति ग्ररप नारिसीगारि समेति, 'सगली सिमृति सूवनि सुन 'ग्रनिक प्रसाद करावै' तथा 'भूमिदान सोभा मडपि पावै लेकिन साथ निन्दा त्यागे विना और सच्ची लगन से भगवान को ग्राराधे विना उसे भगवत्प्राप्ति नही हो सकती, अपितु वह नरकगामी ही होगा।[6] इसमे भी ग्रधिक सत्कुल म ज म लेकर चाहे पट कम ही क्यो न करता रहे, लेकिन जब तक हरि भगति हिरदै नाहि[7] जीव भव पार पहुँच ब्रह्म का नही मिल सकता। केवल वेद पुराणो का पढना भी व्यय है,[8] क्योकि उससे भी 'ग्रणभउ न दरसै।'[9] वस्तुत इन सब ग्रवरोधक शक्तियो का मूल कारण मायोत्पन्न ग्रविदया है क्योकि उसी ने ही 'विवेक दीप मलीन'[10] कर दिया है इसलिए जब तक 'मनु कपरे कहा लउ धोवउ,[11] अपवित्र मन को पवित्र नही कर लिया जायगा, जब तक भगवद्-भक्ति ग्रवरोधक शक्तियो को नष्ट करके ही ग्रथवा उनसे बच कर या ग्रप्रभावित रह कर ही जीव भक्त बन सकता है ग्रौर तब भगवान को प्राप्त कर सकता है। रविदास ने कहा है कि सच्चे भक्त को ता माया प्रभावित ही नही कर सकती।

मोह पटल समु जगतु विग्रापिग्रो भगत नही सतापा।[12]

इस लिए मन को पवित्र कर भक्त बन जाना ग्रावश्यक है।

1—2—3—4 पृ 525 रवि, 1
5 प 694 रवि, 3
6 प 875 रवि 2
7 प 1124 रवि 1
8 पृ 973 रवि 1
9 प 973 रवि 1
10 पृ 486 रवि, 1
11 प 1193 रवि 3
12 प 957 रवि, 2

सामाजिक मान्यताएँ—

रविदास की सामाजिक मान्यताओं का भी विशेष महत्त्व है। वस्तुतः जिस आन्दोलन को कबीर ने राष्ट्रीय स्तर पर आरम्भ किया था, रविदास ने उसे ही जातिगत स्तर पर चलाया था। कबीर ने मानव मानव में समता और एकता का राग अलापा था, चाहे वह किसी भी धर्म, कर्म पद जाति व जन्म से सम्बन्धित क्यों न हो। रविदास ने घर में उजाला करने के बाद ही जगत को आलोकित करना उचित समझा था। हिन्दू जाति के 'विख्यात चमार' होने का गौरव उन्हें प्राप्त था—उन्होंने उसी जाति को अपने 'चमारत्व' की अन्तर्ज्योति से ज्योतित करने का प्रयत्न किया। सम्भव है जो कार्य कबीर ने एक दृढ़, समृद्ध राष्ट्र निर्माण के लिए किया था, उसी के लिए रविदास एक सन्तमत धर्म और जाति का आधार प्रस्तुत करते रहे। दोनों का कार्य एक ही था, केवल पैमाने एवं आकार का भेद था। सम्भवतः इसीलिए जहाँ रविदास का कार्य मधुर व्यंग्यों से चलता रहा, वहाँ कबीर को तिलमिला देने वाले कटु व्यंग्यों के साथ पाण्डे काजियों ब्राह्मण मुल्लाओं को भी ललकारना पड़ा।

जो हो जात-पात का रविदास ने भी कबीर से कम शक्तिशाली शब्दों में विरोध नहीं किया। जाति विख्यात चमार' ही रविदास गोविन्द गुण सार [1] होने के कारण अब विप्र परधान तिहि करहिं डंडउति [2] बनारस के प्रधान ब्राह्मणों का ही साष्टांग प्रणाम-स्थल बना हुआ है। कबीर ने तो एक बार ललकारा ही था न मैं जुलाहा हूँ और तुम काशी के ब्राह्मण, मेरा ज्ञान पहचानो[3] लेकिन—

' जाके कुटुम्ब ढेढ सभ ढोर ढोवत फिरहिं अजहु बनारसि आस पासा।
उसी रविदास को आचार सहित विप्र करहिं डंडउति तिन तनै। [4]

लेकिन वह तो दासान दासा, [5] ही बना हुआ है। जन्म और जात-पात ही नहीं, कर्म तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता में भी भक्ति के क्षेत्र में भगवान के दरबार में कोई रोक टोक नहीं क्योंकि भक्त ता मेटी जाति और झट से 'हुए दरबारि [6] तथा उसने 'करि किरपा लिन कीट दास' । [7] अपना दास बना लिया। इसीलिए 'आछोप छीपा नामदेव जिसने कुल में 'गऊरेवधु करहि 'ऐसा जुलाहा

1 प 1293 रवि 1 | 2 प 1293 रवि, 1
3 प 482 क 26 | 4 5 प 1293 रवि, 2
6 7 प 875 रवि 1

कबीर, त्रिलोचन, कसाई सधना तथा नाई सेन तर सकते हैं।[1] कोई कम या व्यवसाय भगवद्भक्ति म बाधक नहीं, उनका तो अपना महत्त्व है, क्योंकि 'कहु रविदास भइआ प्रव लेखो।' जोई जोई कीनो सोई सोई देखिओ[2] गुरु नानक ने भी तो यही कहा है 'करनी आपो आपणी के नडे के दूरि।[3] कर्मानुसार फल प्राप्ति में रविदास न अपना विश्वास इन शब्दो द्वारा प्रकट किया है—

जीअ जत जहा लगु करम के बसि जाइ।
काल फास अवध लागे कछु न चलै उपाइ।[4]

तथा 'पूरब लिखित लिलाट' भी इसी का परिणाम है। कम का महत्त्व स्थापित करते हुए वाल्मीकि का उदाहरण देकर जीव को कमण्य जीवन व्यतीत करने का सदेश एव प्रेरणा दी है—

काहे न बालमीकहि देख।
किसु जाति ते किह पदहि अमरिओ राम भगति विसेख।[5]

इसीलिए जीव को सतक करता है 'काहे रिदै राम न जपसि अभाग।[6] कमण्य-जीवन म कथनी एव करनी मे एक्य का महत्त्व स्थापित किया है।[7] रविदास वेदा के विरोधी नही। ह जीव ! ससार दु ख राशि है, इस बात को 'अजो न पत्याइ निगम भए साखी।'[8] इसीलिए भक्ति और कम के साथ साथ उसने ज्ञान के महत्त्व को भुलाया नही—'उपजिओ गिआनु हुआ परगास'[9] और यह अन्तर्ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। आडम्बरी ब्राह्मणो के पाखण्ड पूण ज्ञान का तो उन्होंने विरोध ही किया है, क्योकि 'करम अकरम बचारिय सका सुनि बेद पुरान।[10] ऐसे ब्राह्मण तो न जाने कितने माग बताते हैं जो सदेहोत्पादक हैं। इस प्रकार जन्म-जाति, कम व्यवसाय का भक्ति से कोई सम्बन्ध नही—

बरन अबरन रकु नही ईसुरू बिमल बासु जानिऐ जगि सोइ।
ब्रहमन बैस सूद अरु ख्यत्री डोम चडाल मलेछ मन सोई॥

---

1 'नामदेव कबीरू तिलोचनु सधना सनु तर।' (पृ 1106 रवि, 1)
2 पृ 1293 रवि, 3
3 पृ 8 म 1, 1 श्लोक
4 पृ 486 रवि, 1
5 पृ 346 रवि, 5
6 पृ 1124 रवि, 1
7 पृ 1167 रवि 1
8 पृ 658 रवि, 3
9 पृ 710 रवि 1
10 पृ 875 रवि, 1
11 पृ 346 रवि, 5

होई पुनीत भगवंत भजन तें आपु तारि तारे कुल दोई।
धनि सु गाउ धनि सो ठाउ धनि पुनीत कुटंब सभ लोई॥
जिनि पीआ सार रसु तजे आन रस होइ रस मगन डारे बिखु खोइ।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरु न कोई॥
जैसे पुरैन पात रहै जल समीप भनि रविदास जनमे जगि ओइ॥[1]

मध्ययुगीन भारत में शास्त्रों के भी संत रविदास का समाज की पुकार के प्रत्युत्तर में यह सामाजिक समता का स्वर निनादित हुआ था। सम्भवतः आज भी पाँच, छह सौ साल बाद गांधी जी को इसीलिए 'हरिजन' पत्र चला कर 'हरिजन कालोनी' में ही रहना पड़ा था। मध्ययुग का एक विनिप्रात चमार हरिजन बन गया था, इसीलिए आधुनिक युग की एक दैवी आत्मा को उसके मिलन के लिए ही 'हरिजन' के स्तर तक आना पड़ा था। यह है विनिप्रात चमार की महानता और यदि उसकी सारी विचारधारा तथा सारे कार्यों को शब्दों में आबद्ध करना हो तो उनके ही इन शब्दों से अच्छे रूप में नहीं किया जा सकता—

> जाति भी ओछी करम भी ओछा ओछा जनमु हमारा।
> नीचे से प्रभु ऊंच कियो है कह रदास चमारा।[2]
>
> इस लिए अपनी अनुभूति का सार व इस रूप में कह गए हैं—
> हरि सा हीरा छाडि कै करै आन की आस।
> ते नर जमपुर जाहिगे सत भाषै रदास।

और युग युग युगान्तर तक इस सत्य को जगत जीवन की कसौटी पर कसता रहेगा।

---

1 प 858 रवि, 2

2 प 486 रवि, 3

• • • भारतीय परम्परा और गुरु नानक की माया सम्बन्धी धारणा

गुरू नानक की सम्पूर्ण रचना मूलत बौद्धिक तार्किक गाम्भीर्य पूर्ण सम्बद्ध दार्शनिकता का आश्रय लेकर नही चली है, अपितु वह तो भाव प्रवण आध्यात्मिकता का अजस्र-स्रोत है। वह बौद्धिक तर्क वितर्क का विषय न होकर हृदय के माध्यम से बुद्धि गम्य है। दर्शन के सूत्र उसमे काव्यात्मक शैली में पिरोए गये हैं, जिन्हें सहृदय अनायास ही हृदयगम कर लेता है उसमे बौद्धिक आग्रह की आवश्यकता नही। गुरू नानक की इस शैली को ध्यान मे रखते हुए उनकी माया सम्बन्धी धारणा को बहुतायत से उन्ही के शब्दो मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर भारतीय चिन्ताधारा के किसी 'वाद' के बन्धन मे बांधना हमे उनके साथ अन्याय करना प्रतीत हुआ अत उससे बच कर चलने का प्रयत्न किया गया है।

'माया शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता चला आया है। काल क्रमानुसार इसके अर्थ मे परिवर्तन होना आवश्यक ही था। ऋग्वेद मे इसे इन्द्र की अनेक रूप धारण करने की शक्ति कहा गया है —

'इन्द्रो मायाभि पुरुरूपईयते।[1]

प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक प्रोफैसर दास गुप्ता ने इसे अलौकिक शक्ति एव अद्भुत चातुर्य का परिचायक बताया है।[2] सक्षेपत कहा जा

---

1 ऋग्वेद 6 47 18

2 दासगुप्ता—इण्डियन फिलासफी भाग 1 पृष्ठ 469

सकता है कि वेदों म 'रहस्यमयी अलौकिक सृजन शक्ति' के अर्थ म इसका प्रयोग हुआ है और यदि पूर्वक देखा जाय, तो परवर्ती सारे भारतीय साहित्य और दर्शन म इसी अर्थ का विकास हुआ है। यह और बात है कि प्रत्येक दर्शन ने इस अर्थ की व्याख्या अपनी विचारधारा के अनुरूप की है, अत उस अर्थ म अन्तर दिखाई देता है।

उपनिषदों म भी हम 'माया' के इसी अर्थ का विकास देखते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् म तो सारी प्रकृति को ही माया तथा इसके रचयिता को मायावी कहा है —

'माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम्'[1]

इतना ही नहीं, अन्यत्र स्पष्ट किया गया है कि अपनी इसी माया शक्ति के द्वारा ब्रह्म विश्व का सृजन करता है और इसी म उसने आत्मा को बाँधा हुआ है।[3] कूर्म पुराण मे भी भगवान की माया शक्ति को ही अपरा शक्ति एव लोक विमोहिनी अविद्या बताया है। इसे वे अपनी परा शक्ति विद्या के द्वारा ही दूर कर पाते हैं।[2] अन्यान्य उपनिषदों म माया के विकास को देखकर ही प्रो० रानाडे ने यह सिद्ध किया है कि उपनिषदों म ही मायावाद की भावना आरम्भ हो गई थी।[3] सम्भवत इसीलिए प्रश्नोपनिषद म स्पष्ट कहा गया है कि माया के त्याग के बिना ब्रह्म लोक की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[4] सूर्य पुराण म तो माया को सत असत तथा सदसत् तीनों से भिन्न अनिर्वचनीय एव मिथ्याभूता स्वीकार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकर ने अपने मायावाद के सूत्र यहीं से सग्रहीत किए हैं क्योंकि शकर का मायावाद एकदम इसके अनुरूप है। प्रो० दासगुप्ता का मत है कि बृहदारण्यक आदि उपनिषदों म इन्द्रजाल या जादू के अर्थ म इसका प्रयोग हुआ है।[5]

गीता के अनुसार त्रिगुणमयी माया भगवान की अभिन्न शक्ति है अत वह भी उसकी तरह अनादि और अनिर्वचनीय है। वह इस अनेक विध दृश्यमान जगत की अधिष्ठात्री एव इस लीलामय जगत की स्वामिनी भी है। भगवान का अश

1 श्वेताश्वेतरोपनिषद 4, 9
2 कूर्मपुराण उपरिभाग 4 18—19
3 प्रो० रानाडे—कस्टक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी प 258
4 प्रश्नोपनिषद, 1 16
5 दास गुप्ता, इण्डियन फिलासफी, भाग 1, प 164

होने के कारण वह चिरन्तन एवं नित नवीन है। इस माया के द्वारा ही ईश्वर ससार के सब प्राणियो को नचाता रहता है।[1]

बुद्धघोष ने माया का 'ऐन्द्रजालिक शक्ति' तथा नागार्जुन ने 'भ्रम' के अर्थ मे प्रयोग किया है।[2] सृष्टि के समस्त पदार्थों मे कोई वास्तविक सार नही होता। न वे उत्पन्न होते है और न ही नष्ट होते हैं। न उनका आरम्भ होता है और न ही गमन होता है। केवल माया अथवा अज्ञान के कारण वे मात्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसी की ओर स्पष्ट व्याख्या करते हुए अन्यत्र कहा गया है कि ससार केवल माया और स्वप्न की भांति है, जिसका कोई अस्तित्व नही है। जो न शाश्वत है और न क्षयशील, जिसका न अस्तित्व है न अनस्तित्व। केवल मूर्खों के द्वारा उसका अस्तित्व कल्पित किया जाता है।[3]

अद्वैत वेदान्त मे माया का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। गौडपादाचार्य के अनुसार जगत की उत्पत्ति नही हुई अपितु यह सब भासमान जगत है। उन्ही के प्रशिष्य शकर ने माया के जिस रूप का वर्णन किया है, परवर्ती आचार्यो और सतो मे थोडे बहुत भेद के साथ वही रूप अधिक मान्य रहा है, अत सक्षेपत उसका परिचय पाना आवश्यक है।

माया ब्रह्म की शक्ति है। वस्तुत निर्गुण ब्रह्म ही माया शबलित होकर सगुण हो जाता है। उससे सयुक्त होकर ही ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति करता है और तब वह ईश्वर कहलाता है। इस जगत के समस्त कार्य व्यापारो की कारण शक्तियों का सामूहिक रूप माया है यह जगत ब्रह्म का विवर्त्त है, किन्तु माया का परिणाम है। रज्जु मे सर्प के आभास (विवर्त्त) की भांति यह जगत अज्ञान का परिणाम है। दूध का दही मे, मिट्टी का घडे मे और सुवर्ण का आभूषणो मे रूपान्तरित हो जाना ही परिणाम है। सच तो यह है कि सृष्टि रचना के लिए ईश्वर माया पर अवलम्बित है और ईश्वर का ईश्वरत्व सृष्टि पर आधारित है। माया परमेश्वर की बीजशक्ति है। वही अनेक नाम रूपो का कारण है। उसी के कारण एक ही ब्रह्म अनेक नाम रूपो मे भासित होता है।

'एक एव परमेश्वर कूटस्थ नित्यो नाम, धातु
अविद्या माया विवत् अनेकधा विभाव्यते।

---

1 गीता, अध्याय 18 श्लोक 61

2 दास गुप्ता—इण्डियन फिलासफी भाग 1 पृष्ठ 270

3 दास गुप्ता, इण्डियन फिलासफी, भाग 1, पृष्ठ 149

वास्तव मे ब्रह्म ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है। लेकिन वह तो निर्विकार एव निष्क्रिय है, अत उससे सष्टि की उत्पत्ति कमे सम्भव है? इसीलिए माया को ब्रह्म की शक्ति कहा गया है और उसके सहयोग मे हा इस जगत की उत्पत्ति बताई गई है। लेकिन शकर के अनुसार इस ससार मे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नही, किसी का भी अस्तित्व नही अत माया भी उसकी शक्ति मात्र ही है, उससे अलग उसकी भी कोई सत्ता नही ठीक उसी प्रकार जैसे आग की दाहिका-शक्ति की आग से अलग कोई सत्ता नही।

व्यक्ति की इच्छाशक्ति के बिना कोई क्रिया सम्प न नही होती और व्यक्ति इच्छाशक्ति के बिना भी रह सकता है, लेकिन इच्छा शक्ति व्यक्ति के बिना नही हो सकती। ठीक इसी प्रकार माया को ईश्वर की इच्छा शक्ति कहा गया है। जिस प्रकार स्वप्न म हममे मानसिक सष्टि उत्प न होती है उसी प्रकार ईश्वर की मानसिक शक्ति माया द्वारा यह जगत प्रसूत है। उसकी शक्ति होते हुए भी माया उसके अधीन है और मात्र वही उसका निय ता है। इस प्रकार माया का अपना कोई स्वत त्र अस्तित्व नही है।[1]

स्वत त्र अस्तित्व न होन के कारण माया की जो प्रतिभासित सत्ता है, उसका स्पष्टीकरण करने के लिए अध्यास का आश्रय लिया गया है। वदात सूत्र के अनुसार अध्यास का अथ है अतद म तद बुद्धि का होना।[2] अर्थात् जो वस्तु न हो, उसकी प्रतीति यथा शुक्ति म रजत। अध्यास के उदय का कारण अविद्या को माना है। इस प्रकार माया के स्वरूप का प्रश्न उठते ही शकर ने उसे 'अनिवचनीय' कहा है। माया का प्रयोग शकर ने ईश्वर की सजन शक्ति के लिए भी किया है।[3]

उस युग के तान्त्रिकों का मायावाद शकर के उस मायावाद से बहुत कुछ भिन्न था। उन्होने माया का मिथ्या न मान कर सद्रूप माना है। शक्ति मान की तरह उन्होने शक्ति को भी सद्रूप माना है। अत शक्ति का ही एक भेद होने के कारण माया भी सद्रूप है।[4]

---

1 डा० राधाकृष्णन इण्डियन फिलासफी, भाग 2 पष्ठ 572
2 बृहदारण्यकोपनिषद, भाग 1, 1, 1
3 ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2 1, 9 1 1 17
4 डा० गो० त्रिगुणायत हिन्दी की निगु ण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पष्ठभूमि, पष्ठ 434

आडवार भक्ता की परम्परा मे होने वाले दक्षिण के आचार्यों ने भी जगत और माया को शकर की तरह एकदम मिथ्या नही स्वीकार किया। इसलिए उनकी दृष्टि मे माया सत्य है और दुस्तरणीय है। यह भगवान की है और उन्हीं के आधीन है। माया न ही जीव को बाध रखा है। भगवत्कृपा से ही जीव माया क ब न्धन से छूटता है और तभी वह ससार सागर से पार पहुचता है। द्वैतवादी मध्व ने तो रामानुज के इस मत से आगे बढकर न जगत को मायिक माना और न ही माया की सत्ता को स्वीकार किया।

कबीर आदि मध्य युगीन मतो का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुतायत से शकर से प्रभावित होते हुए भी रामानुज आदि आचार्यों के अधिक निकट पडता है। जहा तक माया के दुष्प्रभाव क वणन का सम्बन्ध है वहा तान्त्रिको के मायावाद का भी उन पर कुछ प्रभाव लक्षित होता है। वस्तुत उनका वणन तात्विक न होकर अधिक भाव प्रवण है जो उसके परिणामो और प्रभावो की ओर हमे अधिक आकर्षित करता है। गुरू नानक भी इसी परम्परा से सम्बन्धित हैं। इसी आलोक म हम गुरू नानक की माया सम्बन्धी मान्यताओ पर विचार करेंगे।

माया के अनेक नाम हैं। श्वेताश्वेतरोपनिषद में इसे प्रकृति कहा गया है। वेदान्त मे माया नाम ही सर्वाधिक प्रचलित रहा है। सांख्य मत वालो ने भी इसे प्रकृति कहा है[1] सम्भवत उन्होंने यह नाम पूववर्ती उपनिषद के आधार पर ही दिया हो। गुरू नानक ने भी 'कुदरति' शब्द का इसी अर्थ मे कई जगह प्रयोग किया है। यथा 'कुदरति कवण कहा वीचारु ॥ पउडी 16 ॥ जपुजी

यद्यपि माया के विद्या और अविद्या दो रूप माने गए हैं पर कही कही अविद्या और माया शब्द का एक ही अथ मे प्रयोग होता रहा है। स्वत शकराचाय ने माया तथा अविद्या शब्दो का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है। यद्यपि परवर्ती व्याख्याकारो ने दोनो म सूक्ष्म भेदो को स्पष्ट किया है।[2] वल्लभाचाय ने जगत निर्माण की शक्ति को प्रकृति तथा जीवा को मोहने वाली शक्ति को माया कहा है।[3] वस्तुत यह भी शकराचाय के इस सूत्र की ही

---

1 डा० त्रिगुणायत कबीर की विचारधारा पृष्ठ 268
2 शारीरिक भाष्य, I, 4 3
3 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी दर्शन अनुचिन्तन, पृष्ठ 79

वास्तव म ब्रह्म ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है। लेकिन वह तो निर्विकार एव निष्क्रिय है, अत उससे सृष्टि की उत्पत्ति कसे सम्भव है ? इसीलिए माया को ब्रह्म की शक्ति कहा गया है और उसके सहयोग से ही इस जगत की उत्पत्ति बताई गई है। लकिन शकर के अनुसार इस ससार म ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नही, किसी का भी अस्तित्व नही, अत माया भी उसकी शक्ति मात्र ही है, उससे अलग उसकी भी कोई सत्ता नही, ठीक उसी प्रकार जैसे आग की दाहिका-शक्ति की आग से अलग कोई सत्ता नही।

व्यक्ति की इच्छाशक्ति के बिना कोई क्रिया सम्पन्न नही होती और व्यक्ति इच्छाशक्ति के बिना भी रह सकता है, लेकिन इच्छा शक्ति व्यक्ति के बिना नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार माया को ईश्वर की इच्छा शक्ति कहा गया है। जिस प्रकार स्वप्न मे हममे मानसिक सृष्टि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ईश्वर की मानसिक शक्ति माया द्वारा यह जगत प्रसूत है। उसकी शक्ति होते हुए भी माया उसके अधीन है और मात्र वही उसका नियन्ता है। इस प्रकार माया का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।[1]

स्वतन्त्र अस्तित्व न होने के कारण माया की जो प्रतिभासित सत्ता है, उसका स्पष्टीकरण करने के लिए अध्यास का आश्रय लिया गया है। वेदान्त सूत्र के अनुसार अध्यास का अर्थ है अतद मे तद् बुद्धि का होना।[2] अर्थात जो वस्तु न हो, उसकी प्रतीति यथा शुक्ति म रजत। अध्यास के उदय का कारण अविद्या को माना है। इस प्रकार माया के स्वरूप का प्रश्न उठते ही शकर ने उसे 'अनिर्वचनीय' कहा है। माया का प्रयोग शकर ने ईश्वर की सृजन शक्ति के लिए भी किया है।[3]

उस युग के तान्त्रिको का मायावाद शकर के उस मायावाद से बहुत कुछ भिन्न था। उन्होने माया को मिथ्या न मान कर सद्रूप माना है। शक्ति मान की तरह उन्होने शक्ति को भी सद्रूप माना है। अत शक्ति का ही एक भेद होने के कारण माया भी सद्रूप है।[4]

---

1 डा० राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी, भाग 2, पृष्ठ 572
2 बृहदारण्यकोपनिषद, भाग 1, 1 1
3 ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2 1, 9, 1, 1 17
4 डा० गो० त्रिगुणायत हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 434

आडवार भक्तों की परम्परा मे होने वाले दक्षिण के आचार्यों ने भी जगत और माया को शकर की तरह एकदम मिथ्या नही स्वीकार किया। इसलिए उनकी दृष्टि में माया सत्य है और दुस्तरणीय है। यह भगवान की है और उन्ही के आधीन है। माया ने ही जीव को बाध रखा है। भगवत्कृपा से ही जीव माया क बन्धन से छूटता है और तभी वह ससार सागर से पार पहुचता है। द्वैतवादी मध्व ने तो रामानुज के इस मत से आगे बढकर न जगत को मायिक माना और न ही माया की सत्ता को स्वीकार किया।

कबीर आदि मध्य युगीन सतो का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुतायत मे शकर से प्रभावित होते हुए भी रामानुज आदि आचार्यों के अधिक निकट पडता है। जहा तक माया के दुष्प्रभाव के वणन का सम्बन्ध है, वहा तान्त्रिको के मायावाद का भी उन पर कुछ प्रभाव लक्षित होता है। वस्तुत उनका वणन तात्त्विक न होकर अधिक भाव प्रवण है जो उसके परिणामो और प्रभावो की ओर हमे अधिक आकर्षित करता है। गुरू नानक भी इसी परम्परा से सम्बन्धित हैं। इसी आलोक म हम गुरू नानक की माया सम्बन्धी मान्यताओ पर विचार करेंगे।

माया के अनेक नाम हैं। श्वेताश्वेतरोपनिषद मे इसे प्रकृति कहा गया है। वेदान्त म माया नाम ही सर्वाधिक प्रचलित रहा है। सांख्य मत वालो न भी इसे प्रकृति कहा है[1] सम्भवत उन्होन यह नाम पूववर्ती उपनिषद के आधार पर ही लिया हो। गुरू नानक ने भी 'कुदरति' शब्द का इसी अर्थ में कई जगह प्रयोग किया है। यथा कुदरति कवण कहा वीचारु ॥ पउडी 16 ॥ जपुजी

यद्यपि माया के विद्या और अविद्या दो रूप मान गए हैं पर कहीं कही अविद्या और माया शब्द का एक ही अथ म प्रयोग होता रहा है। सुवत शकराचाय ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानाथक रूप से किया है। यद्यपि परवर्ती व्याख्याकारो ने दोना म सूक्ष्म भेदो को स्पष्ट किया है।[2] वल्लभाचाय ने जगत निर्माण की शक्ति को प्रकृति तथा जीवा को मोहने वाली शक्ति को माया कहा है।[3] वस्तुत यह भी शकराचाय के इस सूत्र की ही

---

1 डा० त्रिगुणायत कबीर की विचारधारा पृष्ठ 268

2 शारीरिक भाष्य 1, 4, 3

3 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी दर्शन अनुचिन्तन, पृष्ठ 79

व्याख्या प्रतीत होती है जहां माया शक्ति प्रकतिरिति च[1] कह कर शकर ने 'शक्ति और 'प्रकृति शब्दो का भी इसी ग्रथ मे प्रयोग किया है। सच तो यह है कि माया के सभी नाम उसकी सजनात्मक शक्ति तथा सम्पूण जगत को प्रभावित किये रखने की अदभुत सामथ्य के परिचायक हैं। और है भी वह स्वाभाविक।

जगत के कारणभूत ब्रह्म से जिसकी सत्ता है, जो आकाश आदि कायभूत पदार्थो से पहचानी जाती है, जो आकाश आदि कार्यो के उत्पादन मे समथ, सद्वस्तु (ब्रह्म) की शक्ति रूपा है वह माया है।[2] शकर के अनुसार वह ब्रह्म शक्ति होते हुए भी ब्रह्म की तरह नित्य नही है और न ही अनित्य है। लेकिन उसे अध्यास कहा गया है। अध्यास अर्थात अतद म तदबुद्धि उत्पन्न करने वाली शक्ति। परन्तु रामानुज ने उसे ब्रह्म की नित्य अचेतन शक्ति स्वीकार किया है। वह नित्य परिवतनशील है। शकर के अनुसार जब तक माया ब्रह्म मे लीन रहती है, तब तक उसकी अपनी कोई क्रिया शक्ति नही रहती। सम्भवत इसी लिए उसे ब्रह्म की इच्छा शक्ति भी कहा गया है। स्वप्नावस्था से स्वप्न एव जागत अवस्था मे आने पर ही वह सूक्ष्म और स्थूल जगत का निर्माण करती है। जगत की सष्टि का कारण होने स वह सत्व रज तम तीनो गुणो से युक्त है, अत त्रिगुणात्मिका है। उसका आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म। क्योकि वह जीव स ब्रह्म का वास्तविक रूप छिपाए रखती है।

माया की दो शक्तिया मानी गई हैं आवरण और विक्षप। आवरण अर्थात वास्तविकता को छिपाना और विक्षप उसके स्थान पर दूसरी वस्तु को रखना। इन्हीं शक्तियो से *माया ब्रह्म के स्थान पर जीव को प्रपच जगत के* दशन करवाती है। काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि इन शक्तियो के साधन हैं जिनके सहारे यह जीव को भरमाए रखती है। गुरु नानक सहित सभी मध्ययुगीन सतो ने भी इनका विस्तार से वणन किया है।

शकर के विपरीत रामानुज माया क द्वारा सष्टि जगत को वास्तविक मानते हैं मात्र प्रतीति नही। इस दष्टि से गुरु नानक ने भी रामानुज के मत को ही अपनाया है, जिसका आगे विस्तार से वणन किया जाएगा।

आरम्भ मे मात्र निगुण ब्रह्म के और कुछ भी न था और न ही माया

---

1 ब्रह्मसूत्र, शाकर भाष्य, 2 1, 14

2 वाचस्पति गैरोला भारतीय दशन पष्ठ 404

थी। उसने स्वत ही इस सृष्टि म अपना प्रसार किया और त्रिगुणात्मिका माया को उत्प न कर उसी स सम्पूर्ण जगत को बाध दिया 'त्रैगुण आपि सिरजिअनु माइआ मोहु वाइआ।[1] माया की सजनात्मक शक्ति के अथ मे 'कुदरति शब्द का प्रयोग करत हुए भी उसने स्पष्ट ही कहा है कि शू य से उसन सम्पूण ब्रह्माण्ड का निर्माण किया और माया भी उत्पन्न की तथा उसी की मेखला से सारे ससार को बाध दिया है।[2]

एसा प्रतीत होता है कि गुरु नानक ने भी वल्लभाचाय के अनुरूप जगत निर्माण करने वाली शक्ति के अथ म प्रकृति के स्थान पर प्राय कुदरति शब्द का प्रयोग किया है तथा जीवो को मोहन वाली शक्ति के अथ मे माया का।

जगत के उत्पादक नियता एव सहारक ब्रह्मा विष्णु तथा महेश को उत्पन्न कर अपनी आज्ञा मे चलाने वाली माया स्वत ब्रह्म से उदभूत है, अत उस बारम्बार प्रणाम हो।

एका माई जुगति विआई तिनि चले परवाणु ॥
इकु समारी इकु भडारी इकु लाए दीवाणु।
जिव तिसु भाव तिव चलावै जिव होव फुरमाणु।
ओहु वेख ओना नदरि न आवै बहुत एहु विडाणु ॥
आदेसु तिसै आदेसु ॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु ॥30॥[3]

इस शक्तिशाली माया को और कोई भी नही जान पाता, मात्र इसका निर्माता ब्रह्म ही जानता है। इसी लिए तो उसने सारे ससार का भ्रम म डाला हुआ है—माइआ ममता मोहणी जिनि कीती सो जाण।[4] इसका एक कारण यह भी है कि माया का सदा एक रूप नहीं, वह नित्य ही परिवतनशील है। माइआ ममता है बहु रगी।[5] वह अन्याय रूप धारण करके सम्पूण चराचर जगत को प्रभावित करती है। मन रूपी हाथी को मदमान क लिए

1 श्री गुरुग्रथ साहिब पृष्ठ 1237, म 1
2 वही, पृ 1037 6 17 म 1
3 वही पृ 7, 30
4 पृ वही 137, 48
5 वही पृ 1342 1, 1

माया सघन वन खण्ड का रूप धारण करके सम्पूर्ण चराचर जगत को प्रभावित करती है और इस वनखण्ड मे भटकता हुआ जीव काल का ही ग्रास बनता है, क्योंकि वह उसका पार नहीं पा सकता—

मनु मैगलु साकतु देवाना। धनखंडि माइग्रा मोहि हैराना ॥[1]

माया विषधारिणी सर्पिणी से कम भयानक नही है। नानक ने उसके इस रूप से सतर्क किया है क्योंकि वह तो पहले ही उसके बधन म बधा हुआ है—

'हउ मरपनि के वसि जीग्रडा ॥'[2]

इतना ही नहीं पति रूप परमात्मा से न मिलन देने वाली सास रूपिणी यह माया ही है—'सासु बुरी घरि वासु न देव पिर सिउ मिलन न दइ बुरी ॥[3]

उसके सभी कर्मों और गुणो को ध्यान मे रखते हुए गुरु जी ने उस बुरी स्त्री बताया है—

माया मोहु धरकटी नारी। मूडी कामणि कामणि ग्रारि ॥[4]

सच ता यह है कि सासारिका के लिए माया का दुष्प्रभाव इतना व्यापक है कि सभी मध्यकालीन सतो और गुरुग्रो ने उसे इससे अच्छा कोई स्थान दिया ही नहीं है।

प्रभु की माया से कुछ थोड से जाव ही प्रभावित हो, ऐसी बात नही लेकिन इससे तो सम्पूर्ण जगत ही प्रभावित है ग्रौर गुरु नानक का तो ससार भर मे इस माया के माह के अतिरिक्त ग्रौर कुछ दिखाई ही नही दिया।

सगल भवन तेरी माइग्रा मोह।

क्योंकि— सारे ससार पर ही यह माया छाई हुई है।

सभ जगु देखिग्रा माइग्रा छाईग्रा ॥[5]

ग्रौर इस माया के छा जाने का प्रभाव किस रूप म होता है,[6] गुरु नानक इसका उल्लेख करना भी नही भूले! कचन और कामिनी ही उसक साधन हैं जिनके द्वारा वह सारे ब्रह्माण्ड पर छाई हुई है—

'माइग्रा माहि सगल जगु छाइग्रा।
कामणि देखि कामि लोभाइग्रा।

---

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब, म 1 प 415, 1 8
2 वही पृ 63, 7, 15
3 वही पृ 355, 1, 22
4 वही पृ 795 2 3,
5 वही पृ 1169, 2, 5
6 वही प 353, 4, 17

सुत कचन सिउ हेतु वधाइया
सभु किछु अपना इकु राम पराइग्रा ॥ 1 ॥[1]

इस प्रकार माया के मोह मे फसा हुआ सारा ससार यमराज का शिकार होता है— माया मोहि जगु बाधा जमकालि'। क्योकि माया तो प्रत्यक जन्म लेने वाले को अपने जजाल म फसाती है और वह तो किसी का भी साथ नही देती—

माइग्रा माइग्रा करि मुए माइग्रा किस न साथि।[2]

मानव मात्र तो क्या उसने तो सभी देवी देवताओ को भी प्रभावित किए बिना नहीं छोडा 'माया मोहे देवी सभि देवा ,[3]

इस प्रकार हम देखते है कि गुरु नानक के विचार मे माया ने सम्पूण चराचर जगत को प्रभावित किया है क्योकि यह समस्त विश्व माया का ही प्रसार मात्र है।

ससार को प्रभावित करने के लिए माया ने अन्याय साधन अपनाए हैं, जिनम मानव मन सम्भवत सबसे प्रमुख है। किस प्रकार उसने मन को प्रभावित किया है, गुरु नानक के विचार म उसका जीव और जगत पर क्या प्रभाव पडा है, उसी का उल्लेख यहा किया जा रहा है।

स्वस्थ मन जसे ही अपना माग भूलता है, वसे ही माया उसे घर दबाती है और अपने वश म कर लेती है।

'मनु भूलो माइग्रा घरि जाइ।[4]

और उस जीव के देह मे प्रवेश कर माया उमसे बधुत्व स्थापित कर लेती है—

मन का अधुला माइग्रा का बधु।[5]

बधु बन जान के बाद वह उसे अपने जाल मे फसा लेती है और एक बार उसके जाल में फसा हुआ मन जल्दी जल्दी उससे मुक्त नही हो पाता। को अपने वश म रखो। इससे न ही मन माया के वश म पडेगा और न

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब पृ 1342 1, 2 2 वही पृ 935, 42
3 प 227, 2, 14
4 वही म 1 प 7, 30 वही प 222, 3, 3
5 वही प 354, 2, 18

'मनुमाइआ बधिओ सर जालि ।[1]

तब तो मन माया के पीछे दौडता है और स्वत माया का ही रूप धारण कर लेता है—

मनु माइआ मनु धाइआ मनु पखी आकासि'[2]

कलवारिन के हाथो माया की मीठी शराब पीकर मन मस्त हो जाता है'[3] तब उसे अपने उचित माग का बाध कैसे कहा ? क्योकि धीरे धीरे शराब का प्रभाव इतना बढ जाता है कि वह अनायास ही विष का रूप धारण कर लेती है। तब माया रूपी विष से चित्त मोहित हो जाता है और कुछ भी करने के योग्य नही रह जाता—'बिखु माइआ चितु मोहिआ[4] और माया का यह विष सर्पिणी के विष से कम प्रभावोत्पादक नही, इसीलिए जहा-जहा यह पहुचा है उसी को इस ने नष्ट कर दिया है— माइआ बिखु भुइगम नाले। इनि दुविधा घर बहुते गाले ॥[5]

माया से विषाक्त मन सभी प्रकार से मलिन हो जाता है और तब वह किसी भी प्रकार भगवान् मे स्थिर नही होता क्योकि वह तो माया से उद्भूत छल कपट, लालच और पाप आदि मे ही रमा रहता है—

'मनु मेरा दइआल सेती थिरु न रहै।
लोभी कपटी पापी पाखडी माया अधिक लगै ॥[6]

इस प्रकार माया से पूर्णतया प्रभावित मन सब दुर्गुणो की खान बन जाता है और धीरे धीरे उसकी अपनी काय करने की शक्ति ही समाप्त हो जाती है। ससार की सब से सशक्त शक्ति मन को वश मे करके माया अनायास ही उसे नष्ट कर देती है। इसी से माया की शक्ति और महत्व स्पष्ट हो जाता है—

'इसु मन माइआ मोहि विनासु ॥[7]

मन के माध्यम से माया से पार पाने का एक ही साधन है कि मन

---

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब पृ 831 4, 1 2 वही पृ 1330, 1, 10
3 कलि कलवाली माइआ मदु मीठा मनु मतवाला पीवतु रहै।
वही पृ 350, 4, 5 4 वही पृ 636, 2, 4
5 वही पृ 1029, 13 9 6 वही पृ 359, 1, 3+
7 वही पृ 1344, 2, 5

दुगुणा म फलेगा। इससे स्पष्ट है कि जिसने मन को मार कर वश मे कर लिया, उसने माया पर भी विजय पा ली। गुरु जी ने भी स्पष्ट ही कहा है कि जब तक मन नहीं मारा जाता तब तक माया नही मर सकती—

'न मनु मर न माइआ मरै।[1]

माया के कारण मन जिन दुगुणो मे सलग्न हो जाता है उनम से काम, क्रोध लोभ, मोह और अहकार विशेष प्रबल हैं। इनम फसी हुई जीवात्मा ससार म ही मस्त रहती है और पति रूप परमेश्वर का कभी नही मिल पाती, गुरु नानक ने जीव को उसकी इस दशा से सतक किया है—

'लब लोभ अहकार की माती माइआ माह समाणी ॥
इनी बाती सहु पाईऐ नाही भई कामणि इआणी ॥[2]

क्योकि काम, क्रोध आदि मे फसा हुआ चित्त झूठ आदि विकारो के माध्यम से लोभ तथा पाप की ही पूजी एकत्रित करता है, जिससे ससार-सागर से उसका निस्तार कभी नहीं हो सकता—

कामु क्रोधु माइआ महि चीतु। झूठ विकारि जागै हित चीतु।
पूजी पाप लोभ की कीतु। तरु तारी मनि नामु सुचीतु ॥[3]

अन्यत्र गुरु जी ने बताया है कि माया से उत्पन्न अहकार ही जीव को माया के व्यापक जजाल मे फसा देता है।

'हउ विचि माइआ हउ विचि छाइआ ॥[4]

और तब अहकार तथा माया का फन्दा ही जीव के गले म पडा रहता है, जिस बधन स वह निकल नही पाता—

'हउमै माइआ के गलि फधे[5]

इस प्रकार काम, क्रोध तथा अहकार ही दुगुण हैं जो जीव के विनाश का कारण हैं—

दूजी माइआ जात चित वासु। काम क्रोध अहकार बिनासु ॥[6]

इससे बचने का एक मात्र साधन है गुरु कृपा से उनका त्याग कर मन म ब्रह्म-तत्व का लगातार ध्यान करना—

---

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब म॰ 1 प 1342, 1, 1
2 वही प 722 2, 4
3 वही पृ 153 1 7
4 वही प 466, 1, 7
5 वही पृ 1041, 8, 20
6 वही प 223, 1 5

'कामु क्रोधु ग्रहकारु तजीग्रले लोभु मोहु तिस माइग्रा ॥
मनि ततु ग्रविगतु धिग्राइग्रा गुर परसादी पाइग्रा ॥[1]

सासारिक सम्बधियो का मोह माया का एक अन्य साधन है। जीव इस मोह के बधन से उभर ही नही पाता यद्यपि वह इसकी अस्थिरता एव क्षण भगुरता से भली भाँति परिचित है—

माया मोह सरब जजाला।'

और माया के द्वारा जिस मोह का प्रसार हुआ है उसके माध्यम हैं पुत्र और कलत्र—

पुत्र कलत्र जगि हेतु पिग्रारा। माइग्रा मोहु सरिग्रा पासार। [2]

मोह का नशा अदभुत है। इससे उत्पन्न मस्ती के कारण ही जीव पुत्र स्त्री आदि सम्बन्धियो के मोह म फसा रहता है।

तृसना माइग्रा मोहिणी सुत बधप घर नारि।
धनि जोबनि जगु ठगिग्रा लबि लोभि ग्रहकारि॥
मोह ठगउली हउ मुई सा बरतै ससारि॥[3]

माया का मोह है भी सासारिको के लिए बहुत मीठा, ग्रत उससे निकल भागना भी जीव के लिए ग्रासान नही। सच्चाई यह है कि इस सासारिक मोह के बन्धन म ही जावात्मा को उसके ग्रसली घर, ग्रपने पति परमात्मा के घर से भी हाथ धोना पडा और वह घर हीन हो गई।

माइग्रा मोहिणी नीघरी ग्रा जीउ कूडि मुठी कूडियारे॥[4]

गुरु नानक जीव को सतर्क करते हुए कहते हैं कि मोह के बधन मे सारे ससार को बाधने वाली माया कभी किसी का साथ नही देती, लेकिन इस तथ्य को कोई विरला व्यक्ति ही समझ पाता है।

बाबा माइग्रा साथ न होई।
इनि माइग्रा जगु मोहिग्रा विरला बूझै कोइ[5]

इस लिए इससे बचने का तो एक ही उपाय है कि सासारिक सम्बन्धियो से प्रम को बढाने वाली मोह रूपिणी माया का त्याग करो और उस प्रेम को ही

---

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब म 1 प 503 6, 1
2 वही प 2028 9 9
3 वही पृ 61, 1, 13
4 वही प 243, 3, 2
5 वही प 595, 1, 2

जला कर नष्ट कर दो, जो जीव को एसे बन्धनों म फसाता है क्योंकि जीव का उद्धार तो तभी हो सकता है, जब वह राम मे आतरिक प्रेम करे।

'जारहु ऐसी प्रीति कुटुम्ब सनव धी माइग्रा मोह पसारी।
जिसु ग्रतरि प्रीति राम रस नाही, दुबिधा करमबिकारी॥[1]

लेकिन चारों ग्रोर माया के व्यापक प्रसार को देखकर जीव भी मोह-माया म ही मग्न हो गया।

'इत उत माइग्रा देखी पसारी मोह माइग्रा के मगनु भइग्रा॥[2]

इस माया के चक्कर मे पडा हुआ जीव 'कनिक कामिनी सिउ हेतु वधाइहि' कचन और कामनी से ही प्रेम बढाता है ग्रौर इस जजाल से जीवन भर नहीं निकल पाता। धन दौलत और समृद्धि का प्रतीक कचन तथा काम वासना की प्रतीक कामिनी मानव मन की दो ऐसी अतप्त लालसाए हैं, जिनकी तृष्णा कभी समाप्त ही नही होती।

'माइग्रा मद माते तृपति न ग्रावै॥

इस अतृप्ति के कारण ही जीव सदा सासारिक माया म फसा रहता है, जिसके दुष्परिणामो पर भी दृष्टि डालनी आवश्यक है।

विषयो का भूखा जीव अनायास ही माया म जा फसता है[3] ग्रौर फिर उससे निकलने का उसे कोई माग भी नहीं सूझता। क्योंकि माया से घिरा हुआ वह ग्रच्छाई के प्रति ग्रधा हो जाता है ग्रौर तब वह निरतर माया कमाने म ही लगा रहता है, एसी अवस्था म उसे ठीक माग दिख ही कहा सकता है।

माइग्रा ग्रधलउ धधु कमाई॥[4]

परिणाम यह होता है कि जीव उचित ग्रौर अनुचित का निर्णय करने की ग्रपनी बुद्धि भी खो बैठता है ग्रौर माया म ही भटकता रहता है।

'मिल माइग्रा सुरति गवाई।[5]

माया के कारण निंदा, चोरी ग्रादि दुगुणो म फसे हुए जीव न केवल दुखी होते हैं, अपितु कालिमापूर्ण मुह को लेकर व कुरूप भी हो जाते हैं।

'महा कुरूप दुखीए सदा काले मुह माइग्रा॥[6]

---

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब म 1 प 119, 3 3   2 वही प 906, 5 7
3 वही लागी भूख माया मगु जाहै॥ प 1013 3 8
4 वही प 1126 3 5   5 वही प 989 1, 2
6 वही पृ 1244 17

जब मन म कालुष्य ही भर जाता है, तब वे न केवल दूसरा के धन पर ही निगाह रखते हैं अपितु पर नि ा और परनारी के विष म फसे हुए दुख पाते हैं तथा मन वचन और कम से पूणतया माया म ही लिप्त रहते हैं। परिणाम यह होता है कि माया जीवात्मा को भ्रम म डाले रखती है और उसे अपने प्रिय परमात्मा से नही मिलने दती।[1] जब कभी अज्ञानी जीव को इसका बोध होता है तो वह अपनी मूखता पर अत्यधिक दु खी होता है। क्योंकि तब तक वह यमराज का शिकार बन चुका होता है। सारे सासारिक दु ख सहने क बाद उसे सामने काल खडा दिखाई देता है। जीवन भर पाखण्डो म जीवन बिताने वाले जीव को 'जम का डण्डु लागै तब वह उसकी मार से घबरा उठता है क्योंकि—

'माइआ मोहु सहहि जम डडु।[2]

उसकी मार को सहने म असमथ होते हुए भी उसे वह सहनी पडती है। सच तो यह है कि यमराज के दूतो ने उसे माया की जजीरो से बाध रखा है फिर उनकी मार से वह बच भी कसे सकता है।

'जम राजे के हेरू आए माइआ के सगलि बधि लइआ।[3]

ऐसी अवस्था म वह दिन प्रतिदिन तिल तिल करके नष्ट होता चला जाता है क्योंकि माया के प्रति मोह उसके शरीर म याप्त है। माया म फस हुए जीव की यही दुदशा होती है और यही उसका अत है—

दिनु दिनु आवै तिलु तिलु छीजै माइआ मोहु घटाई।[4]

इस प्रकार एक बार जो माया के चक्कर मे फस जाता है, वह जीवन के तीसरे पहर तक को क्या, जीवन के अत तक माया के ब धन को तोड नही पाता।

माइआ ममता छोडी न जाई।[5]

और बगर माया को छोडे यमराज से बचाव का कोई रास्ता नही। माया में ही ज म लेने वाला जीव जीवन भर उसी मे फसा रहता है और उसी मे उसकी मत्यु भी हो जाती है।

---

1 श्री गुरु ग्रथ साहिब, म 1 प 750, 5, 1 2 वही प 903 3, 2
3 वही प 432 पट्टी 5 4 वही प 1330, 3, 11
5 वही पृ 1023, 11 4

गुरु नानक के सारे काव्य का उद्देश्य ही यह है कि माया में फंसे हुए जीव को उसकी वास्तविक स्थिति से अवगत करवाना तथा माया के भयंकर दुष्प्रभावों से उसकी रक्षा कर उसे सत्पथ पर लगाना।

माया से जीव की रक्षा केवल भगवत्कृपा से ही हो सकती है क्योंकि भगवत्कृपा होने से ही सत्गुरु मिलेगा और सत्गुरु ही जीव को वह संदेश देगा जिससे वह माया का त्याग कर भगवत्नाम को अपनायेगा। इन सब के लिए उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता है। सत्संगति में रहकर सत्कर्मों द्वारा ही जीव ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकता है जिससे वह माया से बचने का उपयुक्त पात्र बन सके।

भावहीन दिखावटी संन्यास में गुरु नानक विश्वास नहीं रखते क्योंकि उससे माया का त्याग सम्भव नहीं। अतः गेरुए वस्त्र और भिखारी की झोली बेकार है, जब तक जीव का ध्यान माया में लगा रहता है। मूल बात है भाव। अन्तमन से जब तक माया का त्याग नहीं किया जाता तब तक हरिनाम नहीं अपनाया जा सकता और उसे अपनाए बगैर सांसारिकता से माया से मुक्ति नहीं हो सकती।[1] अवधूत को समझाते हुए भी गुरु जी ने यही कहा है कि माया की मोह के समुद्र से पार जाने के लिए गुरु का शब्द ही सहायक है उस शब्द से न केवल वह जीव ही संसार समुद्र को तर लेता है, अपितु अपने कुल को भी तार देता है।

माइआ मोहु भव जलु है अवधू सबदि तरै कुल तारी ॥[2]

और यह शब्द अथवा भगवत्नाम केवल सत्गुरु के माध्यम से ही प्राप्त होता है। यह शब्द ही है जो माया को जला कर भस्म कर देता है और इसी के ध्यान में अन्तमन को शान्ति मिलती है—

माइआ मोहु गुरसबदि जलाए। निरमल नामु सद हिरदै धिआए ॥[3]

अतः सत्गुरु की शरण में जाना आवश्यक है क्योंकि वह तो माया के सम्पूर्ण जंजाल से पूर्णतया परिचित है, अतः माया उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती अपितु उससे डर कर इधर उधर भागती है। वस्तुतः जिस माया ने सारे संसार को वश में किया हुआ है सत्गुरु ने उस माया को वश में किया है और अपनी शरण में आने वालों की भी वह शब्द के माध्यम से उससे रक्षा करता है

---

1 श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ 1012, 4, 7 2 पृ पृष्ठ 907, 22 2
3 पृ 412, 4 2

अत जीव को सतगुरु के शब्द म रम रहने का सदेश दिया है।

'सतिगुर सबदि रहिहि रगि राता तजि माइआ हउ मैं भ्राता हे।'[1]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि गुरु नानक जगत का निर्माण करन वाली ब्रह्म की शक्ति माया को और उसस उत्प न ससार का सत्य मानते हैं यद्यपि माया अपनी रचना के द्वारा सारे समार को धोखे म रखती है। यही लीलामय का खेल है कि सीमित ज्ञान वाला जीव अपने अज्ञान के कारण माया के प्रपच को समझ नही पाता और उसमे फसा रहता है। मानव मन की मूल वत्तिया कचन और कामिनी जीव को भटकाने के लिए माया के सब से सशक्त साधन हैं। इनका उपभोग करते हुए जीव ज्यो-ज्यो अपने को तृप्त और सतुष्ट करना चाहता है त्यो त्यो उसकी अतप्ति और असतोष बढता ही जाता है। इस अतप्ति की तप्ति के लिए वह जीवन म अन्याय दुगु णो का आश्रय लेता है जिसका परिणाम होता है, पापो की कमाई। इस प्रकार एक बार कुपथ का पथिक जीव माया के भ्रम के कारण उसी माग पर बढता चला जाता है और जीवन-भर उसी भ्रम म भटकता हुआ यमराज का शिकार हो जाता है। जीव को फसाए रखने के लिए माया अन्याय विकराल एव विषाक्त रूप धारण करती है और किसी भी प्रकार से उसे अपने पाश स बाहर नहीं जाने देती। पत्नी और पति जीव और परमात्मा क बीच माया का ही अज्ञान या तम का पर्दा है। जब तक वह पर्दा दूर नहीं होता तब तक यह दोनो मिल नहीं पाते। इस प्रकार ब्रह्म का अश होते हुए भी जीव माया क कारण ही न अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान पाता है और न ही अपने उद्गम स्रोत को जब तक उसे सतगुर की प्राप्ति नही होती। और सतगुरु की प्राप्ति केवल तभी हो सकती है, जब जीव पर नदरि (भगवत्कृपा) हो। भगवत्कृपा भी अर्जित नहीं की जा सकती यह तो अनायास ही होती है। हा इसक लिए वातावरण तैयार किया जा सकता है यही जीव का इस दिशा म अधिक प्रयत्न हो सकता है। सत्सग सत्कर्मादि आदि इस वातावरण को उत्पन्न करने क उपयुक्त साधन हैं। इस प्रकार उपयुक्त वातावरण म ही सतगुरु मिलता है और सतगुरु ज्ञान का प्रोत्साहन प्रदान कर अथवा उसे उसे योग्य बनाकर नाम अथवा भगवन्नाम देता है। श्रद्धा एव भक्ति म भगवन्नाम का ध्यानाकर उसम रमन वाला जीव ही माया स बच पाता है। भक्ति भारतीय विचारधारा का स्वाभाविक विकास

1 आदि गुरु ग्रथ साहिब प 1031 6 11

भ्रम होने के कारण उसे समझने के लिए जिन पूर्ववर्ती धारणाओं का पता होना आवश्यक था, उनका परिचय आरम्भ में ही दे दिया गया है और उसी के आलोक में यहाँ गुरु नानक की माया सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

• • • 'सतो की रचना शैली'

शली वह प्रक्रिया है जिसम हम किमी वस्तु को समाविष्ट देखत हैं।[1] वस्तु और व्यक्ति, लेखक तथा पाठक दोना तथा भाषा और काव्य रूप ये सभी तत्व शैली के माध्यम से वस्तु को रुपायित करते हैं। नलियो के भेद करते हुए इन सभी दष्टिया को ध्यान मे रखना पडता है। विनिष्ट पदरचना को रीति कहा गया है।[2] नास्त्रीय दष्टि से यही शली के निकट पडती है। रीति के प्रमुख आचाय वामन रस गुण, ध्वनि नब्दनक्ति अलकार तथा दोपाभाव को शली के अतरग तथा पदबध को बहिरग तत्व मानते हैं।[3] दृष्टिभेद एव लक्ष्यभेद के कारण स तो के काव्य को काव्यनास्त्रीय कसौटी पर नही कसा जा सकता, तब भी दोनो दष्टियो से उनकी शली को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। सन्तो के काव्य म हमे प्रधानत चार शैलिया मिलती हैं।

1 उपदेनात्मक नैली, 2 भावात्मक नैली 3 खडनात्मक नैली,
4 रहस्यात्मक शली।

उपदेशात्मक शैली—बौद्ध सिद्धो की उपदेनात्मक शली नाथो के माध्यम से, परम्परा मे, निगु णिया सन्तो को प्राप्त हुई।[4] सतो के सहज व्यक्तित्व के दशन उनकी इसी शली मे होते हैं क्योकि उनका मूल उददेश्य जनमानस का पथप्रदशन करना था। इसी शैली म उ होने अनुभूत सत्य को जीवन के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसम प्राय भावो की नहीं

---

1 हि सा को प 848   2 का ल सू प 1/2/7
3 वही (भूमिका) प 1   4 हि सा व इ (भाग 1) पृ 412

विचारो की प्रधानता है। कहीं कही कल्पना ने विचारो को प्रभावोत्पादक ढग मे प्रस्तुत करने मे सहायता की है। उपदेशक शैली के बहुत से दोहे सरसता के प्रभाव म काव्य की कोटि मे भी नही आते। अधिकाश साखियो म शांत रस मिलता है। अध्यात्म सम्बन्धी कुछ पदो मे शृगार रस के भी दशन होते हैं। काव्यरूप की दृष्टि से बहुत अधिक साखिया और कुछ पद इस शैली मे रखे जा सकते हैं। प्राय लक्षणा या व्यजना का आश्रय लिया गया है, कहीं कहीं अभिधा म भी सरसता दिखाई देती है। ऐसे स्थलों पर भाषा प्राय प्रसादगुणपूण है कहीं कहीं (विशेषत पदो मे) माधुय गुण भी मिलता है।

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाड

सतगुरु की किरपा भई, नही तो करती भाड।[1]

इस शैली मे सादृश्यमूलक अलकार सन्तो के काव्य के सबसे अधिक प्रभावशाली एव महत्वपूण आभूषण हैं। 'मोहिनी माया की मीठी खाड से उपमा देना कितने व्यापक प्रभाव को प्रस्फुटित करता है। इसमे अनायास ही अनुप्रास के भी दशन हो जाते हैं। रूपको ने भी उनकी इस शैली को शक्ति दी है। 'सतगुरु के महत्त्व' का कितना क्रियात्मक एव सशक्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्राय समास शैली का आश्रय लिया गया है। पदो मे कही कही व्यास शैली के भी दशन होते हैं। इस शैली में विचारगत गम्भीय एव तज्जन्य शुष्कता भी पर्याप्त मात्रा मे मिलती है किन्तु स्वाविक भाषा की सरलता एव स्पष्टता ने उसे दुरुह एव अप्रिय होने से बचा लिया है। दैनदिन जीवन के व्यावहारिक सत्यो से उन्होने अनुभूत सत्यों की पुष्टि की है जिससे जनसामान्य सुविधापूवक उससे आत्मीयता स्थापित कर उन्हे अपना भी सके। साखिया में प्राय दोहा छद का आश्रय लिया गया है जो अपभ्रश की परम्परा से सन्तो को मिला है।[2] इनमें तुक प्राय सम (2,4) चरणो पर मिलती है। यही उनके काव्य का सबसे सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ। उनकी इस शैली मे एक ओर आध्यात्मिक पथ का ज्ञान है दूसरी ओर लौकिक धार्मिक जीवन का सन्देश, एक ओर अपने अन्तमन को सम्बोधित किया गया है, तो दूसरी ओर जनसमाज को एक ओर आदेशपरक उपदेश है तो दूसरी ओर कातासम्मित सरस उपदेश एक ओर स्पष्ट एव शुष्क उपदेश है तो दूसरी ओर सरस व्यग्य। इन सभी दृष्टियो

---

1 क ग्र (का स) साखी 311

2 हि सा बृ इ (भाग 1) पृ 413

स उनकी यह शैली बदलती रही है लेकिन उसकी मूल प्रकृति म विशेष अन्तर नहीं आया। इसीलिये, परवर्ती सन्तो के काव्य म भी, यह शैली सर्वप्रमुख रही है और सन्त काव्य तो इसके बिना निष्प्राण सा प्रतीत होता है।

भावात्मक शैली —कबीर, रविदास आदि सन्तो का भावप्रवण भक्तहृदय भावावेश म अपूर्ण तन्मयता एव तल्लीनता से आराध्य की अनुभूति को अथवा उनकी अनुभूति के प्रयत्न म अपने अन्त करण के गहनतम भावो को अभिव्यक्त करता रहा है। उनकी आत्म विह्वलता या आनन्दविभोर होने की अवस्था ने अनायास ही उनकी वाणी मे सगीतात्मकता भर दी है। इस शैली का प्रधान माध्यम है 'पद या सबद। साखियो मे भी कही-कहीं उनकी भावप्रवणता के छींटे मिलते हैं। सन्तो के पास पदो म भावाभिव्यक्ति की यह परम्परा नाथो के माध्यम से[1] बौद्ध सिद्धो के चर्यापदो से ही आई है।[2] सन्त बनने से पहले उनका भक्त बनना भी आवश्यक था। अपनी सम्पूर्ण भावनाओ को उन्होने जिस सहज भाव से भगवदर्पण किया है वह पाठक को भी अनायास ही आनन्दमग्न कर देता है। ऐसे पदों मे भावो से भी अधिक उनकी अनुभूति साकार हुई है। स्वात सुखाय गाए हुए इन पदो म जनकल्याण की भावना नही है, लेकिन अनायास ही उन से भक्ति की प्रेरणा अवश्य मिलती है। इस उनकी आध्यात्मिकता प्रधान शैली भी कहा जा सकता है। स्वय भक्ति का रसो मे स्थान न होने के कारण इसे हम शात रस कह सकते हैं। जहा विरहिणी—आत्मा प्रिय परमात्मा से मिलने के लिए विह्वल हो उठी है अथवा जहा सूफी प्रेम गाथाओ के अन्तगत कोई विरही नायक अपनी प्रेयसी से मिलने के लिये परम आतुर होकर प्रयत्नशील बना दीख पडता है यहाँ शृगार के मार्मिक चित्र बडे ही प्रभावोत्पादक बन पड हैं और जब कही उनका मिलन हो गया है तब तो वे लौकिक सयोग शृगार के चित्रो से भी कहीं अच्छी तरह उभर आए हैं। 'भर्तार राम' प्राय सभी सतो के घर चले आए हैं। यही उनके जीवन का चरम साध्य है। तब तो आनदोल्लास देखते ही बनता है। भावाभिव्यक्ति नितात स्वाभाविक सरस एव मधुर शब्दावली मे हुई है। मधुर गुण और मधुरावृत्ति उनकी इस शैली का प्राणतत्व है। इसमे प्राय व्यास शैली का आश्रय लिया गया है और यह स्वाभाविक भी है क्योकि भावावेश पर विशेष बौद्धिक नियन्त्रण या कृत्रिम बधन नहीं। हा, कहीं कही अनुभूति के छींटे कुछ

---

1 गो ना उ यु प 228 2 हि सा ब इ (प्रथम भाग) प 362

साखियों में मिलते हैं, वहां समास शैली के दर्शन होते हैं—

गाइ गाइ अब का कहि गाऊं। गावनहार को निकट बताऊं ॥ टेक

× × ×

जब लग नदी न समुद हमावै, तब लग बढ़ै हकारा।
जब मन मिल्यो रामसागर सों, तब यह मिटी पुकारा ॥[1]

भाषा को परिष्कृत करने के लिए भी संतो ने कभी प्रयत्न नहीं किया, फिर अलंकरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन स्वतः अलंकृत होने के लिए अलंकार ही जब उनकी वाणी का सहज, स्वाभाविक अंग बन बैठे तो, वे भी क्या करते? उपर्युक्त उदाहरण में नदी सागर का मिलन आत्मा परमात्मा के ऐक्य का कितना सरस एवं प्रभावोत्पादक चित्रण उपस्थित करता है, सादृश्यमूलक अलंकार, उनमें भी विशेषतः रूपक एवं उपमा, अनायास ही उनके बहुत से पदों में मिलते हैं। लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक से उन्होंने अपना सम्बन्ध जोड़ा है।[2] अन्यान्य बिंबों का विधान कर मूर्त की चित्रमयता का तो कहना ही क्या, अमूर्त का भी मूर्तीकरण कर दिया है। इस भावात्मक शैली में प्रायः पदों का आश्रय लिया गया है, जिसका आधार बहुधा राग है।[3] इसलिये संतो के बहुत से पदों को रागों के अंतर्गत रखा गया है। अकेले 'आदिग्रंथ' में ही 5 गुरुओं तथा 15 संतों की वाणी को 31 रागों में संगृहीत किया है।[4] यह प्रथा परवर्ती संतों में भी चलती रही। इसमें एक ओर अनुभूति है तो दूसरी ओर भावप्रवणता, एक ओर अलौकिक विरह मिलन के चित्र है तो दूसरी ओर लौकिक दैनंदिन व्यवहार का स्वरूप, एक ओर अलौकिक के प्रति आत्म निवेदन है, तो दूसरी ओर सर्वात्म सुख, एक ओर मार्मिक विदग्धता है तो दूसरी ओर संवेदनशीलता है, एक ओर अपूर्व तल्लीनता एवं तन्मयता है तो दूसरी ओर दोनों में अद्भुत संतुलन। कुल मिला कर कहा जा सकता है कि इन विशेषताओं के आधार पर संतो की भावात्मक शैली के भी अनेक भेद और उपभेद किए जा सकते हैं, लेकिन शैली के मूल तत्वों की दृष्टि से उनमें बहुत कम अंतर देखने को मिलता है, अतः हमने उन सबका विश्लेषण एक साथ ही करना उपयुक्त समझा है।

खंडनात्मक शैली—संतो के समाज सुधारक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन

1 सं. का. (रविदास) पृ. 216 — 2 देखें ऊपर का उदाहरण
3 का. रू. मू. स्रो. उ. वि. पृ. 174 — 4 सं. धा. वि. प. 70

इसी शैली के माध्यम से हुआ है। नाथों ने भी समाज के बाह्याचार का विरोध किया था।[1] लेकिन संतों की शैली उनसे कहीं अधिक स्वाभाविक सरस एवं स्पष्ट होते हुए भी, प्रभावोत्पादक है। समाज के बाह्याचार तथा आडम्बरों से संतों को चिढ़ थी, क्योंकि उनमें भाव न रह गया था। संतों ने अपने अंतर में 'सत्' को आविर्भूत कर लिया था, अतः वे इस असत् वातावरण से न तो समझौता ही कर सके और न ही उससे भाग सके। कुठारा हाथ में लेकर समाज सुधार का बीड़ा उठाकर वे चल पड़े थे, इस लिए अनुचित का खंडन किए बिना उनसे न रहा गया। मूर्तिपूजा, तीर्थ, यात्रा, तप, जप, व्रत, माला, हज्ज, रोज़ा निमाज, बांग आदि सभी धार्मिक रिक्तताओं का खण्डन उनका प्रमुख विषय रहा है। सत्य की अभिव्यक्ति सम्पन्न तो होती ही है, पर कहीं उसमें विरोध की भावना भी मिल जाए तो वह प्रचंड भी हो जाती है यही इस शैली का प्राण तत्व है। प्राय साखियों में तथा कुछ पदों में भी उनकी खंडनात्मक शैली के दर्शन होते हैं। उनकी खंडनात्मक शैली का आधार प्राय विचार है। यह और बात है कि जिन तर्कों का उन्होंने आश्रय लिया है वे शास्त्रीय न होकर, दैन-दिन व्यावहारिक जीवन से लिए गए हैं ताकि वे जनसामान्य की पकड़ से बाहर न हों, क्योंकि यही वर्ग उनकी वाणी का तथा उनके संदेश का लक्ष्य रहा है। यदि पत्थर की पूजा करके हरि को प्राप्त किया जाता है तो पहाड़ की ही पूजा क्यों न की जाये? सरल बुद्धि का कितना सहज तर्क है। इसके लिए मस्तिष्क को कुरेदने की आवश्यकता नहीं। उसे तो हृदय और बुद्धि दोनों अनायास ही ग्रहण कर लेते हैं। संतों में ऐसे तर्क बहुत अधिक पाए जाते हैं। इनसे कहीं स्मिति उद्भूत होती है तो कहीं अट्टहास। दोनों ही अवस्थाओं में हास्यरस से अंतर आह्लादित हो उठता है। उनकी व्यंजना शक्ति का सर्वाधिक निखार इसी शैली में हुआ है। पंडित और ब्राह्मण को मुल्ला तथा मौलवी को योगी तथा बाह्याडम्बरी को—सभी को उन्हीं की शब्दावली और भाषा में लताड़ा है। उनके अज्ञान पर कभी दया दिखाई है, तो कभी रोष। इसीलिए उनका खंडन कभी सामान्य है, तो कभी प्रचंड। उनके अधिक खंडनों में ओजगुण तथा परुषावृत्ति के दर्शन होते हैं। कहीं कहीं प्रसाद गुण भी मिलता है लेकिन ओजगुण के माध्यम से ही उनकी स्वाभाविक ललकार प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है। उनके अटूट आत्म-विश्वास ने उनकी अभिव्यक्ति को निर्भीक बनाया है, इसीलिये उसमें निश्छल सरलता के साथ अक्खड़पन भी मिलता है। कभी कभी उनकी ललकार के पौरुष ने शक्ति प्रदान की है। विरोधियों से कहीं मुकाबला हो गया, तो उनका उग्र

एव प्रचड रूप देखते ही बनता है। सच पूछा जाए, तो सतो की खडनात्मक शैली ही सबसे अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। धमपराडमुख होती हुई जनता को उन्होंने सच्चे धम, मानव धम, का पाठ पढ़ाया। उनकी खडनात्मक शैली को बल मिला उनकी व्यग्यात्मकता से। वस्तुस्थिति का उद्घाटन कर वे इस प्रकार प्रहार करते हैं कि चुटकी बजाए बिना रहा नही जाता। उनका चुटीलापन उन के व्यग्यो को बल देता है। सरलता एव स्पष्टता के कारण जनसामान्य को उन के व्यग्यो से अनायास ही आत्मीयता हो जाती है—

'नागे फिरे जोग जो होई, बन का मिरग मुक्त भया कोई।
मूड मुडाए जो सिधि होय, स्वर्गहि भेड न पहुची कोई॥

इतनी स्पष्ट समास शैली मे इससे सरल तक और सशक्त व्यग्य कम ही देखने को मिलेंगे। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कबीर आदि कुछ सतो की खडनात्मक शैली मे उददडता है, तो गुरु नानक आदि सतो में विनय शीलता, कुछ साखियो मे क्राति का स्वर प्रखर है तो दूसरी मे शातिमय सुधार का, कुछ मे बौद्धिक तक हैं, तो दूसरी मे भावमयी युक्तिया कुछ की शैली एक दम स्पष्ट है तो दूसरी की व्यग्य पूण, कुछ मे केवल खण्डन है, तो दूसरी मे नैतिक व्यवहार परक कुछ का केन्द्र बिन्दु है समाज, तो दूसरी का व्यक्ति विशेष। इस प्रकार यह शैली उस युग के समाज सुधारक सतो के काव्य का गौरव एव प्राण है, जो बहुत व्यापक जनसमाज का बहुत काल तक प्रभावित करती चली आ रही है। यह स्थायित्व एव प्रभाव ही उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण है।

रहस्यात्मक शैली—जनसमाज से अपनी साधनाओं को छिपाने तथा उनके रहस्य से उसे चमत्कृत करने के प्रयत्न में बौद्ध सिद्धो तथा नाथो ने रहस्यात्मक शैली का आश्रय लिया और उनकी इस परम्परा को बहुत से परवर्ती संतो ने भी अपनाया[1] उल्टवासियां इस शैली का प्रधान अग हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति एव प्रारम्भिक प्रयोग के विषय मे विद्वान् एकमत नहीं हैं।[2] जहां किसी बात को विपरीत या ऊटपटाग ढग से प्रस्तुत किया जाए उसे 'उल्टवासी' कहा गया है।[3] बहुत से विद्वानो न प्रसाद गुण के अभाव मे इसे 'अधमकाव्य' कहा है लेकिन कुछ विद्वानो को साकेतिक उल्टवासिया मे उच्च श्रणी के काव्य के दशन होते हैं।[4] सतो की सामान्य वाणी तो जनसामान्य के लिए थी, लेकिन

---

1 हि सा को, दि ख प 233 | 2 क सा पर पृ 152
3 स का, प 94 | 4 हि का नि स पृ 409

गहराई म जाकर जिन्हें गूढ़ रहस्य को जानने की इच्छा थी, उनके लिए इस शैली का आश्रय लिया गया था। जनमानस भी इनसे चमत्कृत होकर आश्चर्यान्वित होता था। आध्यात्मिक जीवन, सासारिक भ्रम एव प्रपच तथा योग एव साधना का रहस्य इनके प्रमुख विषय हैं। इन विषयों के अनुरूप ही इनमे अनुभूतिपरक, चमत्कारपरक तथा गोपनपरक प्रवृत्तियां मिलती हैं। अपने अनुभव को, बौद्धिक डाँच म ढालकर प्राय प्रतीकों तथा रूपकों के माध्यम से, स्थापित किया गया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक एव रूपक उनकी कल्पना की सूक्ष्म उडान के परिचायक हैं। वस्तुत सतो की कल्पना शक्ति का सम्पूर्ण वैभव इसी शैली म देखा जा सकता है। साधनात्मक क्रियाओं का वणन उनके योग सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है, तो आध्यात्मिक विरह का चित्रण उनकी अलौकिक अनुभूति का। यौगिक शब्दावली ने साधनापरक शैली को दुरूह बना दिया है, तो दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली न अनुभूतिपरक शैली को। सहज स्वाभाविक सरलता एव स्पष्टता, जो सतों की भाषा एव शैली की सबसे बडी विशेषता थी, उसका स्थान कृत्रिमता, बौद्धिकता दुर्बोधता, दुरूहता तथा अस्पष्टता ने ले लिया है। इसी भाषा का सध्या भाषा कहा गया है—सभवत गोधूलि वेला के धुधलेपन एव अस्पष्टता के कारण ही। इनसे प्राय अद्भुत रस का सचार होता है—

समदर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई।
दखि कबीरा जागि, मछी रुषा चढि गई॥[1]

नदिया जल गई अर्थात सभी सासारिक इच्छाए नष्ट हो गइ और तब समुद्र मे आग लग गई अर्थात जीव मे परमात्मा की विरहाग्नि की लौ जग गई। मछलियां पडो पर चढ गई अर्थात् जीव का मन उच्च दशा को प्राप्त हुआ। कबीर अपन को ही सतक करते है कि इसे जाग कर देख लो। ऊपर बताई गई अनुभूतिपरक शैली की सभी विशेषताए इसमे अनायास ही उपलब्ध हैं। इनमें साकेतिक पारिभाषिक, सख्या मूलक रूपकात्मक तथा विरोधात्मक प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। सभी सतो मे प्रतीकों की विविधता उपलब्ध है। न तो एक ही प्रतीक एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है और न एक ही भाव, विचार या वस्तु के लिए एक प्रतीक का ही निरतर प्रयोग होता रहा है। अत प्रत्येक उलटबासी का अर्थ सदर्भ विशेष में ही समझा जा सकता है। इस प्रकार जहा

1 क ग्र (का स) प 12 4—66

प्रतीक इसका प्राणतत्व है, वहां विरोधमूलक अलकार आवश्यक धम । इनमे भी प्राय विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, तथा असगति से उल्टवासी को अलकृत किया गया है। सक्षेपत कहा जा सकता है कि एक ओर अनुभूति है तो दूसरी ओर योग, एक ओर आंतरिक प्रह्लाद है, तो दूसरी ओर शारीरिक साधना, एक भक्ता के लिए है, तो दूसरी योगियो के लिये । परवर्ती सतो मे भी इस शैली के कहीं कहीं दर्शन होते हैं ।

सतों का काव्य मूलत भाव या विचार प्रधान है, क्योंकि काव्य-रचना उनका उददेश्य कभी नही रहा । इतना होने पर भी उनके 'अनुभूत सत्य' की अभिव्यक्ति इतनी सशक्त है कि उसे शैली के कृत्रिम आवरण की आवश्यकता नहीं। यह और बात है कि हमने उनकी सहज, स्वाभाविक, निश्छल एव सशक्त वाणी मे शैली को अन्यान्य तत्त्वों को ढूंढ कर अपनी सुविधा के लिये उसे वर्गीकृत किया है। लेकिन सतो की मूल शैली उनके सरल, एव निष्कपट व्यक्तित्व की समाज के उपयुक्त अभिव्यक्ति ही है ।

● ● ●

• • • सिक्ख गुरुओ की धार्मिक मान्यताऐं

मध्ययुगीन धार्मिक चेतना के विकास म सिक्ख गुरुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर के 30 वष बाद उत्तरी भारत के समाज की धार्मिक बाग-डोर सम्भालने वाले गुरु नानक ने व्यापक भ्रमण कर न केवल अपने युग के समाज की नब्ज को ही पहचाना था, अपितु उसकी अवस्था को आत्मसात कर उसका युगानुरूप सामाजिक व धार्मिक निदान भी प्रस्तुत किया था। यही उनके व्यक्तित्व की युग को स्थायी व अमर देन है।

वे मूलत आध्यात्मिक व्यक्ति थे न कि बौद्धिक, तार्किक या दार्शनिक। उनकी सहज अनुभूति की निश्छल व स्पष्ट अभिव्यक्ति म जो विचार कण इतस्तत बिखरे हुए मिले, उन्हें दार्शनिक न कह कर धार्मिक कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वस्तुत सम्पूर्ण समाज को परिचालित करने के लिए उन्होंने इन धार्मिक मूल्यो और मान्यताओ का आश्रय ही लिया और उसे ही आधार बनाकर परवर्ती नो गुरुओं ने भी उसी ज्योति को ज्योतित किया। इस प्रकार दसो सिक्ख गुरुओ के माध्यम से जो धार्मिक मान्यताए हमारे सम्मुख आई उन्ही का सक्षिप्त लेखा-जोखा यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्म—

तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन वडाई॥

जा तू देहि सु कहा सुआमी मैं मूरख कहणु न जाई ॥1॥

(पृ 795 म० 1)

'गोविंद रूप' गुरु ने भी जिस की बडाई अपने को 'मूरख' कह कर ही प्रारम्भ की है क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान है कि आन्हि सुरि नर मुनि जन

सेव' लेकिन उसके बड़प्पन का तो कोई अंत ही नहीं, इसलिए 'ता आखि न सकहि सेइ केई ॥' जब सांसारिक कोई भी व्यक्ति उसकी महिमा का गान नही कर सकता—तो गुरू जी की दृष्टि 'गावहि ईसर बरमा देवी' पर पड़ी, लेकिन वे थक गये पर 'ताकी महिमा गनी न आवे क्योंकि 'ता कीआ गला कथीआ ना जाहि ॥ जिस की बात ही नही कही जाती, उसकी महिमा का बखान कैसे हो। सब उसका वणन करत थक गये, लेकिन अनत का अत कोई न जान सका और गुरु जी बोले—

'कोई न जाने तुमरा अंतु ॥
ऊचे ते ऊचा भगवंत ॥ (पृष्ठ 268 म 5, 8)

इसलिए सभी भक्तो एव चारों गुरुओ को उसकी महिमा गान म ही थका हुआ जान पचम गुरु अर्जु न बोले—

'तुमरी उसतुति तुम ते होई ॥
नानक अवरु न जानसि कोई ॥ (पृष्ठ 266 म 5, 7)

जब ब्रह्म की महिमा ही अनत है, तो उसके उद्गम स्थान का ज्ञान आवश्यक ही अनुभव हुआ, अनादि होते हुए भी वह 'स्वैभं' (मूलमंत्र) स्वत उत्पन्न है, लेकिन तब, कहा उत्पन्न हुआ और इसका किसी को ज्ञान नही, क्योंकि—

''कवणु सु वेला वखतु कवणु कवण थिति कवणु वारु ॥
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु ॥
(पृ 4 म 1, 21)

इस प्रकार पडित और मुल्ला का, वेद तथा पुराण को—किसी को भी उसकी उत्पत्ति के विषय म कुछ ज्ञान नहीं, इसे तो केवल 'आप जाणै सोई ॥' इस प्रकार जिसके उद्भव और विकास की कहानी केवल उस तक ही सीमित है, क्योंकि तुमरी गति मिति तुमहि जानी' ॥ आपे आपि नानक प्रभु सोई ॥'
(प 276 म० 5, 7)

ब्रह्म का निवास-स्थान खोजने के प्रयत्न म न केवल वह 'सगल घटा के अतरजामी प्रतीत हुआ, अपितु 'घटि घटि बिआपि रहिआ भगवन ॥' वह तो प्रत्येक घट में व्याप्त है। घट' तो क्या 'जल थल मही अलिसोई ॥ सवत्र व्याप्त होता हुआ 'थान थनतरि रहिआ समाई ॥' वह सम्पूर्ण ब्रह्माड मे समाया हुआ है। सवत्र-व्याप्त का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि वह तो 'सम क मधि' होकर भी 'सभते बाहरि' है, लेकिन 'राग दोख त निआरे ॥' सम्भवत

• • • सिक्ख गुरुओ की धार्मिक मान्यताऐं

मध्ययुगीन धार्मिक चेतना के विकास म सिक्ख गुरुओ का महत्वपूर्ण स्थान है। कबीर के 30 वष बाद उत्तरी भारत के समाज की धार्मिक बाग-डोर सम्भालने वाले गुरु नानक ने व्यापक भमण कर न केवल अपने युग के समाज की नब्ज को ही पहचाना था, अपितु उसकी अवस्था को आत्मसात कर उसका युगानुरूप सामाजिक व धार्मिक निदान भी प्रस्तुत किया था। यही उनके व्यक्तित्व की युग को स्थायी व अमर देन है।

वे मूलत आध्यात्मिक व्यक्ति थे, न कि बौद्धिक, तार्किक या दार्शनिक। उनकी सहज अनुभूति की निश्छल व स्पष्ट अभिव्यक्ति मे जो विचार-कण इतस्तत बिखरे हुए मिले, उन्हें दार्शनिक न कह कर धार्मिक कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वस्तुत सम्पूर्ण समाज को परिचालित करने के लिए उन्होने इन धार्मिक मूल्यो और मान्यताओ का आश्रय ही लिया और उसे ही आधार बनाकर परवर्ती नौ गुरुओं ने भी उसी ज्योति को ज्योतित किया। इस प्रकार दसो सिक्ख गुरुओ के माध्यम से जो धार्मिक मान्यताए हमारे सम्मुख आइ उ ही का सक्षिप्त लेखा-जोखा यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्म—

तू सुलतानु कहा हउ मीआ तेरी कवन वडाई ॥
जा तू देहि सु कहा सुआमी मैं मूख कहणु न जाई ॥1॥
(पृ 795 म० 1)

'गोविंद रूप' गुरु ने भी जिस की बडाई अपने को 'मूरख' कह कर ही प्रारम्भ की है क्योकि उसे इस बात का ज्ञान है कि आखहि सुरि नर मुनि जन

सेव' लेकिन उसके वडप्पन का तो कोई अत ही नहीं, इसलिए 'ता आखि न सकहि सेइ केई ॥' जब सांसारिक कोई भी व्यक्ति उसकी महिमा का गान नही कर सकता—तो गुरू जी की दृष्टि 'गावहि ईसर बरमा देवी' पर पड़ी, लेकिन वे थक गये पर 'ताकी महिमा गनी न आवे' क्योंकि 'ता कीआं गला कथीआ ना जाहि ॥ जिस की बात ही नहीं कही जाती, उसकी महिमा का बखान कैसे हो। सब उसका वणन करते थक गये, लेकिन अनत का अत कोई न जान सका और गुरु जी बोले—

'कोई न जाने तुमरा अतु ॥
ऊचे ते ऊचा भगवत ॥ (पृष्ठ 268 म 5, 8)

इसलिए सभी भक्तो एव चारों गुरुओ को उसकी महिमा गान मे ही थका हुआ जान पचम गुरु अर्जुन बोले—

'तुमरी उसतुति तुम ते होई ॥
नानक अवरु न जानसि कोई ॥ (पृष्ठ 266 म 5, 7)

जब ब्रह्म की महिमा ही अनत है, तो उसके उद्गम स्थान का ज्ञान आवश्यक ही अनुभव हुआ, अनादि होते हुए भी वह 'स्वैभं' (मूलमत्र) स्वत उत्पन्न है, लकिन तब, कहा उत्पन्न हुआ और इसका किसी को ज्ञान नहीं, क्योंकि—

'कवणु सु वेला वखतु कवणु कवण थिति कवणु वारु ॥
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु ॥
(पृ 4 म 1, 21)

इस प्रकार पंडित और मुल्ला को, वेद तथा पुराण को—किसी को भी उसकी उत्पत्ति के विषय मे कुछ ज्ञान नहीं, इसे तो केवल 'आपे जाणै सोई ॥' इस प्रकार जिसके उदभव और विकास की कहानी केवल उस तक ही सीमित है, क्योंकि 'तुमरी गति मिति तुमहि जानी' ॥ आप आपि नानक प्रभु साइ ॥'
(पृ 276 म० 5, 7)

ब्रह्म का निवास-स्थान खोजने के प्रयत्न मे न केवल वह 'सगल घटा के अतरजामी प्रतीत हुआ, अपितु 'घटि घटि विआपि रहिआ भगवत ॥ वह तो प्रत्येक घट मे व्याप्त है। 'घट' तो क्या 'जल थल मही अलिसोई ॥ सवत्र व्याप्त होता हुआ थान थनतरि रहिआ समाई ॥ वह सम्पूर्ण ब्रह्माड म समाया हुआ है। सवत्र-व्याप्त का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि वह तो 'सम कै मधि' होकर भी 'सभत बाहिर' है, लेकिन 'राग दोख त निआर ॥' सम्भवत'

इसलिए सबके निकट होता हुआ भी सब से दूर है, अर्थात् भतर म पहचानने मे दूर नही और न पहचानन वालो को कहीं भी प्राप्य नही—अन गुरु ने तो 'जहँ जहँ देखा तह तह सोई ।। इसलिए भतर म देखत हुए गुरु को भ्रम हुआ 'मन महि भ्रापि मन भपुने माहि ।' कबीर को भी यही भ्रम हुआ था कि वह मन म बैठा है या मन उसमे । दिव्य आत्माओ की अनुभूतियाँ एक सी ही होती हैं—इस प्रकार उन्होने ब्रह्म के निवास स्थान को जान लिया और बाल—

सचखडि वसै निरकारु ।।' (जपुजी 37)

यह 'सचखडि' और कुछ नहीं मन की पवित्रतम अवस्था म उसकी ही अनुभूति है । कितना निकट कितना अपना कितना सुन्दर और कितना महान् है भगवान का निवास स्थान ।

घर का ज्ञान होने पर उसके स्वरूप का परिचय पाना भी अनुपयुक्त नही लेकिन पता लगे तो कैसे—क्योकि वह तो 'थापिग्रा न जाई कीता न होइ ।। न स्थापित ही किया जा सकता है न ही बनाया जा सकता है—(भगवान की मूर्ति का कितना सरस और और मधुर विरोध है) आपे आप निरजन सोई । (जपु 5) इसलिए उसका तो रूप न रेख न रग किछु इन स्थूल गुणो की तो बात ही क्या ? वह तो सम्पूर्ण ससार के आधार 'त्रिहुगुण ते प्रभ भिन ।। सत्व, रज, तम तीनो गुणो से भी निर्लिप्त है और है भी 'जुग जुग एको वेसु ।' (जपुजी 28) सदा एक ही रूप धारण किए रहता है कभी कुछ परिवर्तन होता तो शायद पता लग जाता—अत उसके स्वरूप एव आकार का भी कोई ज्ञान सम्भव नहीं ।

बुद्धिमानो का कथन है कि जिसकी पहचान स्वरूप से न हो सके, उसे गुणो से पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए । लेकिन आकार रहित वह तो अजनमा है, इस विचार ने ही प्रथम उसके नेति गुणो पर विचार करने को विवश कर दिया । वह न केवल अजन्मा अनादि एव अयोनि है वह तो अगम अगोचर अलख अपारा भी है, वह तो अछल अछेद अभेद (सुख 21) बन कर सवत्र समाया हुआ है, इसीलिए तो वह अथाह है । और सवसृष्टि का एकमात्र 'कर्त्ता हो कर भी 'आपि अलेप निरगुण रहता (आसा म 5) है यही उसकी विशेषता है । नेत्र श्रवण आदि से परे वह न केवल इन्द्रियातीत है, अपितु वेद आदि सम्पूर्ण धार्मिक ग्रथो से भी अज्ञेय ही बना हुआ है । सब का यजमान 'यम भी तो उसका कुछ नहीं बिगाड सकता क्योकि वह तो 'अकाल है—उसकी सीमाओ से दूर है । तो आखिर है क्या ? वह १ ओ (मूलमत्र) अर्थात 'एकम्

एक्कार निराला' है, कैसा निराला, 'सति एक मात्र सत्य है, आदि सचु जुगादि सच आज से ही नहीं, अनंत युगों से वह सत्य-स्वरूप चला आ रहा है और चलता जावेगा, इसी लिए तो उसे 'सति सति सति प्रभु सुआमी' कहा गया है। सब मे व्याप्त हो उन्हें धारण करने वाला होने के कारण नाम संज्ञा प्राप्त हुई, संसार का एक मात्र 'करता' तो वही है करण कारण प्रभु एक है दूसर नाही कोई। वही तो न केवल सम्पूर्ण ब्रह्मांड अपितु 'शिव शकति आप उपाईकै उन्हें भी स्वत उत्पन्न कर करता आपे हुकम वरताए।' अपनी आज्ञा म ही रखता है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड का नियन्ता भी वही है और 'बाहर हुकमु न कोई उसकी आज्ञा से बाहर तो कुछ भी नही लेकिन उसका 'हुकम कहिआ न जाई (जपु 2) तथा उससे 'हुकमु न करणा जाई।' (जपु 27) हुकम करवाया भी नही जा सकता—तो संसार मे होता क्या है ?

'जो तिसु भावै सोई करसी' (जपु 27)

अपनी इच्छानुकूल वह 'करेगा।'—नहीं करेगा नहीं जो तिसु भावै सोई होगु॥ उसकी इच्छा हुई और वह अबाध गति से, अविच्छिन्न प्रवाह-पूर्वक स्वत होता जावेगा—इसीलिए तो उसे आप्त-काम कहा गया है। क्योंकि वही तो 'उतपति परलउ खिन महि करता।' क्षण भर म 'उत्पत्ति प्रलय का करने वाला है, यही उसकी कर्त्तव्य शक्ति का परिचय है।

'करता' वह 'पुरख (शक्ति का प्रतीक) है। सर्वशक्तिमान् वह न केवल 'पतित उधारै और 'पाथर तरावै, अपितु 'बिनु सास राखै॥' भी वही है। और न जाने क्षण भर मे—राजा को रंक तथा निधन को धनवान् क्या कुछ नही बना देता यही उसकी सर्वशक्तिमत्ता है।

'मैं बिधि संभु आकार है निरमउ हरि जिउ सोई॥' आकार रहित होने से वह तो स्वत ही निरभउ है। 'निर वैर है। अकाल होते हुए भी मूरति उसकी सत्ता अवश्य है और 'स्वैभं। इस प्रकार वह तो 'निरजन निर कार निरवान' (सुख 21)

उसकी गुणो से भी पहचान करते करते थक कर गुरु जी बोले—

'बहुता कहीए बहुता होई॥ (पृ 5 म 1, 24

इसका तो जितना बखान किया जावे यह तो उतना ही बढता जाता है। अत विस्तार भय से लौकिक गुणो का वर्णन किए बिना ही गुरु का अनुकरण करते हुए शांत हो जाना ही उपयुक्त है। यही है—शिष्य जगत के गुरु 'ग्रंथ'—उसके भी सदगुरू—'गुरु नानक' तथा उसके भी सतिगुरू 'वाहिगुर की एक झलक।

सृष्टि—

'वाहि गुरु' की 'सिसक्षा' का ही परिणाम है सृष्टि। इसके निर्माण के लिए उसे किसी प्रयत्न के आवश्यकता नही केवल 'कीता पसाउ एको कवाउ ॥' (जपु 16) एक इच्छा हुई और अनायास ही सम्पूण सृष्टि क्रम प्रवह मान हो गया, लेकिन इस क्रम को जानता कोई नही, केवल 'जा करता सिरठी कउ साजे आप जान सोई। (जपु 21) एक मात्र कर्त्ता ही उस भेद को जानता है। सष्टि उसका क्रीडास्थल है 'खले सगल जगतु' वह स्वत ही इसका निमित्त और उपादान कारण है, क्योकि यह तो उसने 'आदि कीनो आपन विसथार अपना ही प्रसार किया है, बाहर से कुछ नही लिया 'सभ कहु उसका ओहु करनै हार। इसलिए उससे भि न ससार म कुछ नही और सवत्र एकमात्र वही व्याप्त है।

इसके निर्माण का भी एक क्रम है। वह भी 'जिव जिव हुकमु तिव २ कार। उसकी आना के अनुकूल ही सृष्टि विकसित होती गई। बाजीगर की तरह उसने स्वत ही विचार कर 'नाना रूप भेख दिखलाई ॥

इन भिन्न भि न 'रूपा को स्पष्ट किया है—

जैसे जल ते बुदबुदा उपजै विनसै नीत
जग रचना तैसे रची कहु नानक सुन मीत।
(पृ 1427 म 9, 25)

तथा भेख का विकास इस प्रकार हुआ—

कई जनम भए कीट पतगा। कई जनम गज मीन कुरगा ॥
कई जनम पखी सरप होइओ कई जनम हैवर ब्रूख जोइओ ॥
(पृ 176 म 5, 1)

इतना ही नही सष्टि रचना क नियमित विकास क्रम म—पवन पानी अग्नि पाताल और तब धरती आदि भी हुए। इस प्रकार ब्रह्म की अनत रचना म करोडो योगी मुनि राजा पखी सरप' 'पाथर बिरखी 'पवन पानी बसतर 'दैस भूमण्डल ससीअर सूर नख्यत्र' देव दानव इन्द्र और क्या कुछ नही उसने उपजाया लेकिन महत्व इस बात का है कि 'सगल सामग्री अपन सूति धारे ॥ समूचा ब्रह्माड को अपने नियन्त्रण म ही रखता है। और सीमित ज्ञान वाला जीव इसे नहा जान सकता। इसलिए सृष्टि का विकास क्रम समझन क लिए उसने वृक्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

तू पेड साख तेरी फूली।'
परिणामस्वरूप 'तू सूखमु होआ असूथली ॥

तथा तु वलनिधि तू फेन बुदबुवा ॥
तुध विनु अवरू न भालिए जीउ ॥ (प 102 म 5, 7)

एक बार नही— कई बार पसरियो पसार ॥ न जाने कितनी बार विकसित हुआ और विलीन हुआ।

शकर की सष्टि की तरह न तो केवल इसका आभास मिलता है और न ही यह स्वप्नवत मिथ्या है, अपितु यह तो— नानक सच्चे की साची कार (जपु 31) कर्त्ता सत्य की कृति सत्य ही है। 'आपि सति है, इसलिए उसने 'किया सभु सति।' गुरु जी न इस विचार को और दृढ़ शब्दो मे प्रकट किया—
सचु सचु सचु सचु सभु कीनो ॥ (पृ 279 म 5, 8)

इस लिए 'सचा आपि सचा दरबारु ॥ (जपु 34) भगवान का सम्पूण दरबार भी उसकी ही भाति सत्य है—न प्रतिभासित और न ही स्वप्नवत मिथ्या।

ब्रह्म से आविर्भूत होने पर इसमे सत्व, रज, तम तीना गुणो का विकास होता है। य तीनो गुण उसकी शक्ति हैं। इनके अनुपात म विषमता ही प्रकति के अविरल परिवतन का कारण है। इसलिए परमात्मा तथा आत्मा की तरह प्रकति भी सत चित तथा आनद है। इसम किसी का भी लोप नही अपितु अपूण विकसित होने के कारण अभाव हो सकता है। यह अभाव (नही) अपूणता का द्योतक है क्योकि प्रकति तो सदा की भाति परिवतनशील रहेगी ही—'एको वेसु तो एक मात्र वही है। सष्टि मे जड कुछ नही, सभी कुछ चेतन है। हाँ बहुत कुछ अविकसित रूप मे है, निरतर विकसित होने के साथ जिसमे जितना चेतन उभर आता है उतना ही निकृष्ट से उत्कृष्ट वस्तुओ का विकास होता जा रहा है। यही अपूणता से पूणता की ओर विकास है, लेकिन यह कभी पूण न होगा, क्योकि न कोई पूण है और न हो ही सकता है एक मात्र ब्रह्म को छोड कर। तब भी उत्कृष्टतम प्राणी बुद्धिजीव ज्ञान के कारण सदा स इस दिशा म प्रयत्नशील रहा है और रहगा—यही उसकी प्रगति का सचक है। लेकिन खेल का अत क्या है? 'खेल सकोचै तउ नानक एकै ॥ इस प्रकार क्रीडा म जिस जगत का प्रसार किया था उसे वह अपने मे ही सकुचित कर लेता है और वह विशाल ब्रह्माड 'जिस ते उपजिया तिसु माहि समाए ॥' उसी मे समा जाता है। अनुभूति और तीव्र हुई, ससार को उसमे समाया हुआ देख कर गुरु जी बोले 'जिस ते उपजिआ तिसु माहि समाना ॥' तब तक वह उसम विलीन हो चुका था तो यह सब क्या? तह किछु जनमै नह किछु मरै॥

सब एकमात्र उस का आविर्भाव था और उसी में तिरोहित हो गया ।

यह है अनन्त की आप निर्गुण और सगुण हो कर भी भक्त मुक्ति तथा अनन्तता के लिए उसका भाव में ही पथदर्शन ।

जीवात्मा

मन तू जोति सरूप है
आपणा मूल पछाणु ॥ (443 म 3 6)

यह जीव भी उस अनन्त ज्योति का स्वरूप है क्योंकि उसी से उद्भूत यह उसी का अंश है अतः यह सूक्ष्म में उसके गुण इसमें प्राप्त हैं । इस सम्बन्ध को दशम गुरु ने अधिक दार्शनिक शब्दावली में अग्नि चिंगारी के सम्बन्ध से स्पष्ट किया है —

जैसे एक आग ते कनूका आग उठे ॥'
अकाल स्तुति दशम ग्रंथ)

ठीक उसी प्रकार ब्रह्म से ही देही उद्भूत हुआ है और देहधारी देही ही जीव कहलाता है । इसी सम्बन्ध को अन्यान्य स्थलों पर 'तू मात पिता हम बारिक तेरे ॥' कह कर सभी गुरुओं ने स्पष्टतः स्वीकार किया है । इस प्रकार जीव भी अनंत है क्योंकि यह विकास क्रम तो चलता रहता है—'इकदू जीवो लख होहि लाख होवहि लख वीस ॥ (जपु 32)

वह स्वत ही 'पसरियो आपि होई अनत तरंग ॥' समुद्र की अनन्त लहरों की तरह वह स्वयं ही अनन्त जीवों के रूप में प्रसारित हुआ है ।

और मरणहारु इहु जीअरा नाही ॥ यह जीव उसी का अंश होने के कारण मरता नही । देही देह बदल सकता है पर नष्ट नहीं होता, अवसर आने पर उसमे ही विलीन अवश्य हो जाता है ।

पंच ततु मिलि इहु तनु कीआ (पृ० 1039 म 1, 7)

पाचो तत्वो से इस देह का निर्माण हुआ है । नश्वर होते हुए भी यह देह सुलभ नही अपितु इसे पाने वाला सौभाग्यशाली है क्योंकि 'इस देही कउ सिमरहि देव ॥' देवता तक दुर्लभ देह को पाने के लिए भगवान का स्मरण करते हैं, क्योकि वही तो प्राणी मात्र मे श्रेष्ठतम है । जीव भी सृष्टा की संपूर्ण सष्टि की तरह उसी के नियंत्रण मे है क्योंकि—

'मारै राखै एको आपि ॥
मानुख के किछु नाही हाथ ॥ पृ 281 म 5, 1

मनुष्य के हाथ मे तो कुछ नही, वही चाहे मारे, चाहे रखे । इसलिए भला इसी

में है कि 'जिउ प्रभु राखै तिव ही रहै ॥ और जीव स्वत कुछ कर भी नही सकता। वही 'जो भावै सो कार करावै। उसके सामने किसी भी काय मे जीव बिलकुल भी स्वतन्त्र नही। सब वही होता है जो वह करवाता है। अपनी परवशता को अनुभव करने के बाद विगलित 'अह जीव विनीत हो पूण आत्मसमपण म ही अपने रूप का सम्यक दिग्दशन कर पाता है—'सभि गुण तेरे मैं नाही कोई।' उसकी अपनी तो सत्ता ही कुछ नही। क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही पूण है और जीव तो उसके सामने उसका बहुत छोटा सा अपूण अश मात्र है। इस प्रकार जीव उसकी महानता को समझने के बाद उससे नाना सम्ब ध स्थापित करता है, कही 'तू मेरा पिता तू है मेरा माता ॥' कह कर उसका बालक बनता है, तो कही 'तू ठाकुर हम दास तुम्हारे' कह कर अपनी विनमता प्रकट करता है। कही अपनी परवशता की 'तू जलनिधि हम मीन तुम्हारे। कह कर जल बिना मछली की अवस्था से तुलना करता है और भगवान् को छोड नही सकता। जो तुम गिरिवर तौ हम मोरा इसीलिए तो कही उसका मोर बनता है। इतना ही नही जगत का घनिष्टतम सम्ब ध पति पत्नी का है और आत्मा अनायास ही भगवान् की पत्नी बनने के लिए सर्वांशत अपने को प्रस्तुत कर चुकी है, यही उनका अन्तिम लौकिक सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार मानवात्मा की भी स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह अपने स्वाभाविक उद्गम की ओर चले, तब उसे ज्ञात होता है—

'सो प्रभु दूर नाही प्रभु तू है। (पृ 354, म 1)

केवल अपने अतर मे उसे उद्भासित करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि 'आतम महि रामु राम महि आतम लेकिन इस तथ्य को पहचानने वाले बहुत कम हैं। जीवो में भी उत्कृष्टतम सतगुरु है इसलिए उसका परिचय तो 'गुरु गोबिंद रूप' इतने से ही स्पष्ट है, वस्तुत 'ग्रथ' का 'सतिगुरु अवतारो से अधिक शक्तिशाली है और है जीव को ब्रह्म की सर्वोत्कृष्ट देन। 'सतगुरु' ही नही साधु सन्त एव ब्रह्म ज्ञानी का भी परिचय आवश्यक है।

सत्गुरु न होते हुए भी ये उसके ही भिन्न रूप माने जा सकते हैं, क्योंकि 'पार ब्रह्म साध रिदै बस ॥' और आगे बढ़ते बढते 'नानक साध प्रभु भेद न भाई ॥ वह भी उस 'ऐक्य अवस्था तक पहुच जाता है, पर 'साध अधिक उपदेश का काय न कर व्यक्तिगत उन्नति की अपेक्षा रखता है, उसके इस प्रमाद को दूर करता है 'सत। वह स्वत साधु होता हुआ भी पर उपकार

मे इतना रत है कि उस पर कोई विपत्ति आ जाए तो 'सन्त के कारिज आपि गलोया प्रभु करावनि आया राम ॥' ब्रह्म ज्ञान आकर उसके कर्म करवाता है और ब्रह्म ज्ञानी की तो बात ही क्या ? वह तो इससे भी आगे बढ़ कर 'अपार मुक्त हो कर 'दैवे प्रभु मन' और धीरे धीरे 'आपि परमपुर ॥ वह न केवल गगन ब्रह्म की स्थिति तक पहुँचता है अपितु उसी स्थिति पर म निवास करता तथा मुक्ति दाता बनता हुआ पूरन परमु विधाता बन जाता है ? और किसी को उसकी महानता म सन्देह न रह जाय इसलिए 'आपि निरंकार कह कर मानव मात्र को यह संदेश दे दिया कि प्रत्येक मानव के जीवन का साधन और साध्य ब्रह्म ज्ञानी की इस स्थिति म ही निहित है । उसकी पहचान होने पर यह बात इस रूप म और स्पष्ट की गई है ।

ब्रह्म महि जनु जन महि पार ब्रह्म ॥" (पृ 287, म 5, 3)

इस प्रकार मन अपनी अलग नहीं रह जाता, 'सूरज किरण मिले जल का जल होए राम ॥' अपनी किरणों को समेटने वाले सूर्य की ही भांति आत्मा परमात्मा म विलीन हो जाता है । तथा पानी पानी मिल कर एक जैसे एक हो जाते हैं उसी प्रकार जीव ब्रह्म एक हो जाते हैं । पानी सम्मिलन अधिक हो जाता है, लेकिन जोति जाति रली सम्पूरन थीआ राम । इस प्रकार ज्योति का मन ज्योति में ही विलीन हो गया । कबीर के भी 'कुंभ में जल' की प्रतिध्वनि गुरु अर्जुन के इस पद म प्राप्त है —

जसे कुंभ उदक पूरि आनिओ तब उहु भिन दृष्टि ॥
कहु नानक कुंभ जल महि डारिओ अंभै अंभ मिलो ॥ पृ 1203,
म 5, 4)

इस प्रकार आत्मा परमात्मा का पूर्ण ऐक्य मान्य है कुछ विद्वानों का मत है कि गुरु ग्रंथ साहिब मे आत्मा परमात्मा का पूर्ण ऐक्य मान्य नही है, यह युक्ति सगत प्रतीत नही होता । वे साध्य की अंतिम सीढ़ी तक नहीं पहुंच सके, ब्रह्म का सान्निध्य तो अंतिम साध्य न हो कर साधन ही है क्योंकि गुरु जी ने तो स्पष्ट ही कहा है—

'जिस ते उपजिआ नानका सोई फिर होईआ ॥'

इसी प्रकार की अन्यान्य ऊपर दी गई उक्तियों से स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म का अंतिम सबन्ध तो पूर्ण एक्य ही है । यही है जीव का आविर्भाव और तिरोहण—ज्योति का महा ज्योति मे विलीनीकरण ।

'प्रभु कै सिमरनि विनसै दूजा।

इस द्वैत का विनाश ही 'ग्रन्थ' का साध्य है और इसका परिणाम है 'गुरु प्रसाद नानक इकु जाता ।। उससे मिल कर पूर्ण ऐक्य।

बहुभ्रमणशील गुरु ने जगत को देखा था, दार्शनिक वाद विवाद से दूर रह कर भी इससे परिचित थे—इसलिऐ उन्होंने सीधा शंकर के 'अहं ब्रह्म' का प्रचार न कर समय, स्थान और परिस्थितियों की पुकार का उपयुक्त उत्तर देने का प्रयत्न किया—इसके लिए आवश्यक था कि अध्यात्म मंदिर के उच्चतम शिखिर तक ले जाने के लिए जनता को उसकी प्रत्येक सीढी का परिचय करवाया जावे, ताकि जन सामान्य उन सोपानों को भी साध्य समझ कर ही बढता चले और प्रत्येक साध्य पर पहुंचने के बाद उसे ज्ञात हो कि साध्य तो अभी सोपान भर ऊपर है और वह हतोत्साह होने के स्थान पर नवीन उत्साह और स्फूर्ति के साथ निरंतर तब तक अगले साध्य की ओर प्रयत्नशील रहे, जब तक साध्यों के भी साध्य पूर्ण ऐक्य अवस्था तक पहुंचने के लिए उसमे अपनी सत्ता ही न विलीन कर दे। यह गुरु ग्रंथ साहिब के मनोवैज्ञानिक विकास क्रम का परिचायक है।

सांसारिक सम्बन्धों की अस्थिरता दिखाकर मोह माया के जंजाल में फंसाने वाली (सर्पिणी) माया से रक्षा ही उसका प्रथम साध्य है। दुःख और पीड़ा के संसार से जन सामान्य को धर्म की ओर खींचने का कितना आकर्षक प्रलोभन है। तब क्षणभंगुर संसार और नश्वर देह का परिचय देकर सवग्रासी भयानक यम से रक्षा का लोभ किस मानव को नही आकर्षित कर लेता। इसलिये सत्गुरु की शरण में जाने का संदेश दिया है क्योंकि वह कालु परहरै' यम से रक्षा हो लेकिन ससाररिक बन्धनों से छुटकारा भी आवश्यक है। इस प्रकार नया सोपान तरै ससारू अथवा 'नामु जपत निसतरै' पार जाना है भवसागर के, जहां पहुंचते ही दर्शन हुए 'मोखु दुआरू' के, अतः वही साध्य साधन साध्य क्रम में अगला सोपान प्रतीत हुआ। एक बार मोक्ष प्राप्त कर फिर किस को संसार में आने की इच्छा बाकी रह जाती है, इसलिये आवागमन के चक्कर से छुटकारा पा (गरभि न बसै), उसका लक्ष्य बन जाता है और यही वह विश्राम स्थल है जिसे पा 'अमर भए अमरा पद पाइआ ।। लेकिन इसी अमरत्व को ठुकरा कर देवता मानव जीवन के इच्छुक हो जाते हैं तो प्रगति कैसे रुक सकती है। उसके लिये 'परम गति पाइये' कहा है लेकिन यह परमगति तो

हुक्मु बूझि परम पदु पाई ॥ प्राप्ति परम पद म परिणित हो गई, यह परम पद ही ब्रह्म का सानिध्य है, सम्भवत इसलिये कुछ गुलभ हुए व्यक्तियों ने इसे ही अतिम स्थिति समझकर 'मानव द्वारा प्राप्य ऊँची स ऊँची गति कहा है। इस प्रकार परमपद प्राप्त करके भी आवश्यक है कि मन बसहि पारब्रह्म क सग ॥ उसका शाश्वत सान्निध्य करन वाला ही तो सा जनु मचि समाता ॥ सत्य म समा सकता है। यह उसम समाना ही तो निरतर ब्रह्मानुभूति है और अविरत ब्रह्मानुभूति का ही परिणाम है।

जिउ जल महि जलु आई खटाना ॥
तिउ जोति सगि जोति समाना ॥ (पृ 278, म 5, 8—11)

और इस प्रकार मिटि गए गवन पाए विश्राम। इस अनत विश्राम में ही दूजा मिट गया और 'एकु जाता'—वह एकु जो एकु वसु' है। यही है ग्रथ के साध्य का भी साध्य और एकमात्र साध्य—जिसे अध्यात्म मदिर का उच्चतम शिखर कहा जा सकता है।

राजु न चाहउ मुकति न चाहउ मनि प्रीति चरन कमलारे ॥
(पृ 534, म 5, 29)

सभवत इसलिए इस प्रक्रिया म साधन नाम एव भक्ति का इतना महत्त्व है कि वे साधन होते हुए भी साध्य बन जाते हैं। जीव 'भगवान से भगवान भी नहीं चाहता वह तो उससे केवल 'नाम चाहता है जो नाम अपने आप ही भगवान की तरह सब कुछ दे सकता है और एक मात्र सत्य बन बठा है—सचा साहिबु साचु नाई ॥ इस प्रकार साधन का महत्त्व साध्य से भी अधिक है क्योंकि वही तो एक मात्र निष्काम इच्छा है और है निष्काम कम। अत उसका स्थान अवश्य ही चिर विश्राति से महान है क्योंकि चिर विश्रात निगुण ब्रह्म का भी यह नाम ही तो सगुण साकार बना लेता है—उसे अपने भक्त की रक्षा के लिए दौड आना पडता है।

सता के कारजि आपि खलोआ कमु करावणि आया राम
(पृ 783, म 5, 10)

और इसलिए निरगुण ब्रह्म गुणें बस होई ॥ इतना ही नही ग्रथ मे भगवान ने स्वय सच्चे भक्त की महानता इन शब्दो म स्वीकार की है।

मेरी बाधि भगतु छुडावै बाधै भगतु न छूटै मोहि ॥
एक समै मेकउ गहि बाधै तउ फुनि मो प जुवाबु न होई ॥
(पृ 1253, नामदेव 3)

सवकर्त्ता, सवनियता ब्रह्म भी तो भक्त की भक्ति के वश म आ गया और उसके बधन से कोई छुटकारा नहीं, अत वह स्वत ही साध्य का चरम है या अविरल अनन्य भक्ति ? यह अभि यक्ति नही, अनुभूति का विषय है अत इसका निणय साधक ही कर सकता है हम तो केवल परिचायक मात्र हैं इस विषय के।

अवरोधक शक्तियां—

"मन तू जोति सरूप है
आपणा मूलु पछाणु ॥ (प 441 म 3, 5)

अपना परिचय पाने के बाद जीव का अपने साध्य से भी परिचय हो गया। स्वाभाविक रूप मे समुद्र की ओर बढने वाली प्रत्येक पहाडी नदी के माग की अवरोधक चट्टानो और उनसे बढकर पवत श्रृखलाओ का महत्व भुलाया नहीं जा सकता। इन अवरोधक शक्तियो से टक्कर ले तथा आवश्यकतानुकूल सहायक शक्तियो का आश्रय ले—अनत सागर की विशालता मे ही अपने अस्तित्व को विलीन करने मे उसकी सफलता का रहस्य अ तर्हित है।

बाह्याडम्बर ही जीव के माग की चट्टाने हैं, जप तप, माला, पूजा, तीथ वृत, उपवास, स्नान और न जाने क्या क्या तत्कालीन जन समाज के विकसित होने मे बाधक सिद्ध हुए। इन के परिहार का वणन तो सवत्र ही व्याप्त है। इन कपट और पाखण्डो का कारण है 'डाकिनी माया' जो दिन दिहाडे जीव को बताकर भी उसे लूट लेती है। उसके दो प्रमुख अस्त्र हैं, कचन और कामिनी मोह ममता—

'मोहि विआपिआ माइआ जालि ॥' पृ 266, म 5, 4)

इनके कारण जीव मे उद्भूत होते हैं—

'वैर विरोध काम क्रोध मोह।
झूठ विकार महा लोभ ध्रोह ॥ (पृ 268 म 5, 7)

इस प्रकार मानव जीवन के सब दुर्गुणो की उदभासिनी माया वहा अपनी शक्तियों का प्रसार रोक नही सकती, अपितु इनके माध्यम से मानव मात्र मे हउमै' (अह) को जाग्रत करती है। यह 'हउमै' ही दृढ पवत श्रृखला का रूप धारण कर मानव के आध्यात्मिक माग को अवरुद्ध कर लेता है, क्योंकि मानव तो—

"हउ विचि आइआ हउ विचि गइआ ॥
हउ विचि जमिआ हउ विचि मुआ ॥ प 466,म 1 1—7

और उनका तो चतुर्दिक विनाश सम्पूर्ण जीवन भर ही होता रहा। इन की भी आधार भूमि ढूँढी जाये, तो वह है दुरमुख मन क्योंकि 'मने की गति कहि न जाई' वस्तुतः यह चंचल और विकारी मन ही एक मात्र अवरोधक शक्ति है। गुरु ने इस बात को पहचान लिया था इसी लिए उन्होंने जीव को भी सावधान कर जागृत यह मन को ही कहा था—

'मन तू जोति सरूप है।
आपणा मूल पछाणु॥

क्योंकि अवरोधक शक्तियों की जड़ है विकारी मन —सम्भवतः इसी लिए सहायक शक्तियों का परिष्कार कर के स्वच्छ मन । जिसकी परिपुष्टि की है गुरु जी ने इन शब्दों में —

मनि जीतै जगु जीतु॥ (पृ 6 म 1 21)

अवरोधक शक्तियों से पार पाने का सूत्र मिल गया। इसका पता अर्थात शक्तियों के सान्निध्य में जा पहुँचा। सहायक शक्तियों में सबसे महान् शक्ति है 'नदरि'। जे तिसु नदरि न आवई त बात न पुछै के॥ क्योंकि सभी सांसारिक प्रयत्न होने पर भी उसकी कृपा के बिना कुछ नहीं हो सकता और उसकी कृपा का ही आधार रूप या लौकिक रूप है सद्गुरु।

पर सद्गुरु है कौन?

सति पुरखु जिनि जानिया सतिगुरु तिस का नाउ॥

लेकिन इस आडम्बरमय युग में यह कैसे पता चले कि 'सति पुरखु' को किसने पहचाना है तो गुरु जी बोले जिस मिलिए मन होय अनंदु सो सतिगुर कहिए। जिसे मिलने से आंतरिक आह्लाद प्राप्ति हो वही सद्गुरु है। संक्षेपतः सद्गुरु के दो कार्य हैं—(1) जीव की माया से रक्षा करना तथा (2) उसे अध्यात्मपथ का प्रस्थान करा उसको अविरल पवित्र बना कर 'विछुड़ा मेल प्रभु' वह बिछुड़े हुए प्रभु से मिला कर 'दूजा विनसै' और इसु जाता बना देता है। इसलिए लौकिक क्षेत्र में गुरु जी भी पूरण तथा समर्थ हैं इन शब्दों में ही उस का माहात्म्य छिपा है। साधन गुरु का भी साधन है नाम क्योंकि 'साचा साहिब साचु नाई॥ वही तो एक मात्र सत्य है। बिनु नाव नाही को थाउ॥ और उसके बिना आश्रय भी तो कुछ नहीं। वह केवल सब रोग का औखध है, अपितु 'पाप परिहर' 'उधरे जन कोटि' 'निसतरै' और 'ऊचे ऊपरि ऊचा नाउ'। संक्षेपतः यही 'नामु' का महत्त्व है और भगवान के गुणों का ध्यान ही 'नाम' है तथा इसमें निरंतर तल्लीनता का ही जप। यही सिद्ध

धम का 'नाम मार्ग है, जो भक्ति मार्ग का ही प्रमुख एव विशिष्ट अग है। 'कीरतन नाम' मे तल्लीन करने म सहायक है जो जगत का नियमितता मे उत्पन्न विस्मय को 'विस्माद मे परिणत करने मे सहायक है। यह विस्माद ही 'आत्म विस्मृति है और इसका चरम ही 'दूजा विनस' अह का विलीनीकरण, ऐक्य माध्यो का भी साध्य। अत इसका महत्त्व भी नही भुलाया जा सकता। ये सब अतमन की अवस्थाएँ हैं, अत इनका प्रमुख स्थान है और सगहीत सत्सस्कार वाले व्यक्तियो को सम्भवत अ य साधनो की अपेक्षा न हो लेकिन 'ग्रथ का धम मानव धम है, अत जन सामा य को इस पथ का पथिक बनाने के लिए उपयुक्त परिस्थितिया की भी आवश्यकता है जिसके लिए न केवल राजनैतिक शाति तथा सामाजिक समद्धि अपितु धार्मिक वातावरण भी आवश्यक है। इसके लिए सामूहिक दष्टि से सत्सग तथा वैयक्तिक दृष्टि से साधु सत एव ब्रह्म ज्ञानियो से परिचय आवश्यक है। उनका महत्त्व जीव प्रकरण मे बताया जा चुका है।

समाज का अग होते हुए भी व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। इसलिए कुछ व्यक्तिगत साधन भी जीव के सहायक सिद्ध होते हैं। सत्कर्मो के बिना भक्ति, नाम या गुरु भी प्राप्य नही। 'विनु गुण कीते भगति न होई। क्योकि गुण कमाए बिना भक्ति नही हो सकती और गुण सत्कर्मों के बिना कमाए नही जा सकते। कम का महत्त्व इस दष्टि से भी कम नही क्योकि करनी आपो आपणी के दूरि॥ अपने ही कर्मो का फल मिलना है 'जो कमावन सोई भोगु॥ अत सत्कर्मों का जीव को साध्य की ओर ले जाने म विशेष सहयोग है, सम्यक ज्ञान का महत्व सम्भवत इससे भी अधिक है, क्योकि सत असत क्या है इसका ज्ञान होने पर ही मानव सत्कम म प्रेरित हो सकता है। इसीलिए वेद आदि को नहीं, उनको ठीक रूप से न जानने वाले को दोषी ठहराया है। वाणी अथवा गुरु का 'शब्द' ही ठीक ज्ञान का देने वाला है। इस प्रकार प्रधान साधन भक्ति (नाम), ज्ञान का सम्बल और कम का सहारा लेकर ही मानव को साध्य की ओर ले जाने मे सफल होती है। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन मे सयम, सतोष तथा सत्य का आश्रय लेकर सदाचार पूण गृहस्थ जीवन ही उस दिशा म प्रयास करने मे सहायक सिद्ध होता है। जहा श्रवण, स्मरण तथा ध्यान का महत्त्व बताया है, वहा भगवद्विश्वास, भगवान से भय तथा भगवत जनों की सेवा भी थोड बहुत अशों म साधनों क उपयुक्त साधन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार जैसे साध्यों का साध्य चरम साध्य अपना अस्तित्व विलीन कर पूण ऐक्य है उसी प्रकार निलिप्त

जीवन में पवित्र एवं सात्त्विक भाव से एक मात्र शब्द ब्रह्म की भक्ति में निरंतर तल्लीनता ही मानवों का साध्य होकर भी साधन का उत्कृष्टतम साधन ही है। इसी लिए कहा है—

'मनि जीतै जगु जीतु ॥ (पृ ६ म १ २९

यही है साध्य और साधन का तत्त्व रूप।

मानव धर्म के इस रूप में कहीं भी मांस मदिरा आदि पान की न आज्ञा ही दी है तथा न विरोध ही किया है, संत कबीर ने अवश्य कामोद्दीपक होने के कारण मदिरा मद्य आदि का विरोध किया है। सम्भवतः कामिनी के प्रति अवज्ञा भी इसी का परिणाम है। परन्तु उनका ध्यान व्यक्ति के निश्चिन्त रहने की ओर अधिक था, अतः उन्होंने सर्वांगीण रूप से विरोध विकारों का ही किया है उनके विकारों को उद्दीप्त करने वाले सभी साधनों का त्याग ही विरोध समझना चाहिए। हाँ, जब व्यक्ति पंचतत्त्वभिवात्मन होकर इतना ऊपर उठ जाता है कि लौकिक विकारों का उस पर कोई प्रभाव नहीं रह जाता तब इनके उपभोग या त्याग का उसके लिये प्रश्न नहीं रह जाता।

इसलिए 'मानव धर्म' का सार्वभौम सर्वकालीन सत्य को अपनी परिस्थिति के किसी मत या सम्प्रदाय के कटघरे में सीमित करना उसके अनुकूल महत्त्व को बढ़ाना नहीं घटाना ही है। इन सबसे स्पष्ट है कि गुरुओं की महत्ता 'मानव धर्म' प्रतिपादन में ही है।

● ● ●

• • • जीव का साध्य

विश्व के महान् विचारकों एवं दार्शनिकों के लिए सबसे विकट समस्या यही रही है कि आखिर इस जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है ? एक युग पहले भारतीय मनीषियों ने कहा था— आत्मन विद्धि (अपने को जानो)। पश्चिम से भी वही स्वर सुनाई दिया—

'Know Thyself'। लेकिन इतने मात्र से मानव सन्तुष्ट नहीं हुआ। अपने को ही जानने के प्रयत्न मे वह रहस्यमयी सृष्टि और अपने कर्त्ता के प्रति अधिक सजग हुआ। उसी को अपना मूल स्रोत जानकर वह उसी की ओर उन्मुख हुआ। विश्व के सभी महान आस्तिक विचारको ने किसी न किसी रूप में ब्रह्म प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है। यहा हम यह विचार करने का प्रयत्न करेंगे कि मूलत एक ही विचार धारा के पोषक सिख गुरुओ की परम्परा मे दशमगुरु गोबिंद सिंह के अनुसार जीव का साध्य क्या है ?

कीता पसाउ एको कवाउ ।[1] एक बार सिसक्षा हुई और ब्रह्म सृष्टि में प्रसारित हो गया। इसके लिए उसे किसी अन्य शक्ति या सामग्री की आवश्यकता नहीं। 'आपि कीनो आपन विसथारु।[2] स्वत उसने अपना विस्तार कर लिया। सम्पूर्ण सृष्टि का वही तो निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म के इस विस्तार मे ही जीव ने भी रूप ग्रहण किया। हुकमि होवनि जीव[3] और

1 प 3 1 16 (श्री गुरु ग्रथ साहिब के देवनागरी सस्करण की पृष्ठ सख्या दी गई है।

2 पृ 279, 5, 7

3 प 1 1 2

यह जीव हुकमैं आवै हुकमैं जाइ आगै पीछै हुकमि समाइ ।[1] कर्ता का नियन्ता के नियन्त्रण में ही चलता है[2] और अन्त में उसी में समा जाता है।[3] सभी गुरुओं ने जीव को ब्रह्म से उद्भूत एवं उसी के गुणों से युक्त उसका अंश स्वीकार किया है। कहीं उसे सूर्य से उद्भूत किरण बताया है[4] तो कहीं अग्नि से उद्भूत चिनगारी।[5] इस जीव का जीवनोद्देश्य क्या है? और उसका अन्त क्या होता है? यही प्रश्न विचारणीय है।

डा० मोहन सिंह ने लिखा है कि गुरुओं के अनुसार मनुष्य-जीवन[6] का उद्देश्य है—ब्रह्म से तादात्म्य।[7] इसी की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि वस्तुतः यह जीव नहीं, ब्रह्म का अंश ब्रह्म से जा मिलता है।[8] प्रत्येक वस्तु अपने मूल को लौट जाती है अथवा उसी में जा मिलती है।[9] भाई जोध सिंह ने मनुष्य-जीवन का प्रयोजन बताया है कि जीव रूपी चिनगारी को अपने में प्रज्वलित करके उससे जा मिले जिससे यह उपजा है तथा जो सच्चा अमर मन्दिर है।[10] लेकिन आगे चलकर जीव के ब्रह्म से मिलन की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि वे प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्म रूप हो सकती है, लेकिन उस मिलाप की अवस्था में भी ब्रह्म नहीं। इतना ही नहीं, अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि जीव को इस अवस्था में ब्रह्म से एकता महसूस होती है।[11] अर्थात् वस्तुतः एकता होती नहीं। यद्यपि प्रमाण स्वरूप जो उद्धरण उन्होंने प्रस्तुत किए हैं उनसे यही स्पष्ट है कि

---

1 पृ 151 । 2

2 पृ (क) 'जीव उपाइ जुगति हाथि कीनी। पृ 350 1 7
(ख) जीव उपाइ जुगति वसि कीना। पृ 247 1 2

3 'तुझते उपजहि तुझ माहि समावहि। पृ 1035 1 14

4 पृ 846 5 4

5 गुरु गोविन्द सिंह विचित्र नाटक पृ 17/87

6 Dr Mohan Singh Sikh Mysticism, P 35, To Unite with God

7 —Do—P 40, God Unites with God'

8 Do—P 72 'Every object dissolves or returns to the source

9 भाई जोध सिंह गुरमति निर्णय पृ 61

10 भाई जोध सिंह गुरमति निर्णय, पृ 71

11 वही—पृष्ठ 65

ज्योति म ज्योति मिलकर दोनों का पूण ऐक्य हो गया। कुल मिलाकर उनका मत यही प्रतीत होता है कि जीव अन्तत ब्रह्म म तिरोहित नही होता और उस की स्वतन्त्र सत्ता बनी ही रहती है।

डा० शेरसिंह ने भी मानव का लक्ष्य ब्रह्म-तुल्य (God Like) होना बताया है ताकि आत्मा देह का त्याग कर ब्रह्म के सम्मुख उपस्थित हो और उससे उसका ऐक्य हो जावे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस ऐक्य के प्रति उनकी धारणा स्पष्ट नही, क्योंकि अन्यत्र वे कहते हैं कि जीव ब्रह्म के सम्मुख उपस्थित होता है, जिस एक मात्र शक्ति मे उसका पूण सम्मिलन भी कहा जाता है।[2] ब्रह्म तुल्य होने के लिए जीव को सासारिकता मे ऊपर उठना पडता है।[3] कई स्थलो पर उन्होन आत्मा की परमात्मा मे एक्य की बात कही है लेकिन कही भी उन्होंने आत्मा की सत्ता का परमात्मा मे पूण विलय नही स्वीकार किया।

डा० कोहली ने भी गुरुओ के अनुसार ब्रह्मानुभूति को ही जीव का प्रधान जीवनोद्देश्य स्वीकार किया है।[4] आगे चल कर उन्होंने कहा है कि भक्त निर्वाण और मुक्ति का अभिलाषी नही, अपितु अनन्त श्रद्धा और प्रेम मे पूण भक्त तो सदा भगवान के चरणो म बैठा रहना चाहता है।[5] इस प्रकार उन्होने सामीप्य लाभ को प्रश्रय दिया है। उन्होने स्पष्टत स्वीकार किया है कि ब्रह्म के गुणो से युक्त जीव ब्रह्म का ही लघुरूप (miniature) है और अविद्या के प्रभाव म वही ब्रह्म है।[6] अन्यत्र भी उन्होन ब्रह्म मिलिआ कोइ न साकै भिन्न करि बलिराम जीऊ [7] का उद्धरण देते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि जीव म अर्तहित ब्रह्म-ब्रह्म म इस प्रकार मिल जाता है कि उसे कोई अलग ही नही कर सकता। इस प्रकार उसकी सत्ता का तिरोहण हो जाता है।[8] ब्रह्म ज्ञानी की अन्तिम स्थिति का उल्लेख करते हुए भी उन्होने कहा है कि इस ससार से कूच करने पर उसकी आत्मा सूय मे किरणो की तरह अथवा सागर मे जल-बिन्दु सी मिल जाती है।[9] सृष्टि रचना के प्रसग मे भी व कहते हैं कि वह

---

1 डा शेर सिंह फिलासफी आफ सिक्खिज्म, प 207

2 वही प 202

3 वही प 200

4 डा सुरेन्द्र सिंह कोहली आउट लाइन्स आफ सिख थॉट, पृ 118

5 वही पृ 122

6 वही प 31

7 सूही छन्त महल्ला 5

8 डा सुरेन्द्र सिंह कोहली आउट लाइन्स आफ सिख थॉट, प 31

9 वही पृ 121

रचनहार जब चाहता है तभी सम्पूर्ण सष्टि को अपने मे विलीन कर एक मात्र वही रह जाता है ।[1] ऐसी स्थिति म जीव की सत्ता शेष रह ही कहा जाती है ? इस प्रकार अ याय स्थनो पर जीव का ब्रह्म मे पूण विलय मान लेने के बाद भी एक स्थल पर वे लिखते हैं कि देह नाश के बाद भी जीव रहता है और वह शाश्वत है ।[2] आरम्भ म भी हमने देखा है कि उनकी व्याख्या के अनुसार जीवन का उद्देश्य ही उसके चरणो म रह कर अनन्त भक्ति की प्राप्ति है । अत यही प्रतीत होता है कि व भी जीव का ब्रह्म मे पूण विलय होता है इसमे विश्वासी नही ।

डा तारन सिंह ने जीवन का प्रयोजन प्रभु से मिलाप माना है ।[3] इस मिलाप की व्याख्या करत हुए उन्होने बताया है कि अहंकार (हउमै) के कारण जीव सासारिक इच्छाओ म उलझा हुआ है जब वह इन से ऊपर उठ जाता है तो मुक्त हो जाता है । इस मुक्त अवस्था म वह जीवन मरण के बंधन से बच कर प्रभु का सामीप्य लाभ करता है । इसी सामीप्य लाभ को उन्होने सायुज्य (सम्पुजना) अथवा मानव-जीवन की पूणता या अन्तिम ध्येय स्वीकार किया है ।[4] अयत्र दाशनिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्होने इस विचारधारा का विशिष्टाद्वैत के निकट बताया है ।[5] एक स्थान पर ब्रह्म के प्रति भक्त के प्रेम की घनिष्ठता का परिचय देते हुए उन्होने लिखा है कि यह अभेदता तक पहुच जाती है ।[6] जब ब्रह्म सब सष्टि को पुन अपने म समेट लेता है, तब भी सभी आत्माए उसम विलीन हो जाती हैं ।[7] 'जोति भई जोति माहि समाना' का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए भी उन्होने कहा है कि जीवात्मा रूपी ज्योति परमात्मा रूपी महाज्योति म समा जाती है ।[8] अन्य स्थनो पर इस विलय का स्वीकार करने के बावजूद भी उनका मूल स्वर यही है कि जीव मुक्त होकर भी अपनी पूण सत्ता को ब्रह्म म विलीन नहीं होने देता ।[9]

---

1 डा सुरेन्द्र सिंह कोहली ए क्रिटीकल स्टडी आफ आदि ग्रन्थ, पृ 310,338
2 डा सुरेन्द्र सिंह कोहली आउट लाइन्स आफ सिख थॉट, पृ 74
3 डा तारन सिंह गुरु नानक चिन्तन त कला, पृ 200
4 वही पृ 207
5 वही पृ 100
6 वही पृ 176
7 वही पृ 199
8 वही पृ 193
9 वही पृ 198

डनक्न ग्रीनलीस[1] तथा डा जयराम मिश्र[2] ने सिख गुरुओं के अनुसार आत्मा का परमात्मा में पूर्ण विलीनीकरण स्वीकार किया है। गुरुओं की इस विचारधारा पर प्रकाश डालने वाली वाणी के संदर्भ में हम विचार करेंगे।

'सो प्रभ दूर नाही प्रभ तू है।[3] गुरु नानक जीव को स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि हे जीव! तुझ में अन्तर्हित जो ब्रह्म-तत्त्व है, उसको पूर्ण विकसित कर त ब्रह्मत्व को अनुभव कर। ब्रह्म को निर्दिष्ट कर उसने अत्यन्त स्पष्ट ही कहा है कि 'तुमते उपजहि तुम माहि समावहि ॥[4] फिर जीव की सत्ता बाकी ही कहां रह जाती है? तृतीय गुरु अमरदास ने भी इसी मत की पुष्टि की है—'नाना रूप सगा हहि तेरे तुझ ही माहि समाही ॥'[5] पंचम गुरु अर्जुन देव ने और भी नविनपूर्वक इस मत का प्रतिपादन किया है—'हम श्रोह मिलि होवें इक रंगा।[6] क्योंकि हम तो 'जिमते उपजे तिसु माहि समाए।'[7] और समाए कैसे? इसका भी स्पष्टीकरण कर दिया है —

'जिउ जल महि जलु आइ खटाना।
तिउ जोती संगि जोति समाना ॥
मिट गए गवन पाए बिस्रामा ॥[8]

जल में जल का मिलना और ज्योति में ज्योति का समाना तो ठीक है ही। उसके बाद सन्देह का निवारण करने के लिए उन्होंने स्पष्ट ही लिख दिया है कि जीव का व्यक्तित्व मिट गया तभी उसे अनन्त में विश्राम मिला। पंचम गुरु के इसी स्वर में स्वर मिलाकर दशमगुरु गोविन्द सिंह जी ने भी यही कहा है—

'जल ते उपज तरंग जिउ जल ही विखै समाहि।'

अन्यत्र इसी भाव को इन शब्दों में पंचमगुरु ने और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'सूरज किरणि मिले जल का जलु हुआ राम ॥
जोती जोनि रली सम्पूरनु थीआ राम ॥[9]

---

1 डनकन ग्रीनलीस द गौसपल आफ द गुरु ग्रन्थ प 70
2 डा जयराम मिश्र श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृ 168
3 पृ 354 1 17
4 प 1035 1, 14
5 पृ 162 3 2
6 प 391 5, 83
7 पृ 282 5 8
8 प 278 5 8
9 प 840 5 2

किरण सूय म और जल जल म मिलकर भी राम हो बना और ज्योति ज्योति म मिलकर सब बुद्ध एक मात्र राम ही या गया, फिर जीव की सत्ता रह ही कहाँ जाती है ? इसी भाव को दशम गुरु गोविन्द सिंह ने इन शब्दों म अभिव्यक्ति प्रदान कर और भी स्पष्ट किया है—

'तेज जिऊ में अतेज जसे तजलीत,
ताही ते उपज सबै ताही में समाहिग ॥[1]

जिसस सब जीव उत्पन्न हुए हैं, उसम ही उनका तिरोभाव होगा। एक ही जल क फेन (झाग) तरग और बुलबुल विभिन्न रूप हैं। जिस प्रकार जल स निर्मित हो वे उसी म मिल जाते हैं वैसे ही सवक जाव भी अपने ठाकुर म ही जा मिलता है और फिर एकमात्र वही रह जाता है—

जिउ जल तरग फनु जल
होई है सेवक ठाकुर भए एका।
जह ते उठिओ तह ही
आइओ सभ एक एका ॥[2]

दशम गुरु गोविन्द सिंह का शास्त्रीय एव पौराणिक ज्ञान विशद था। सम्पूर्ण भारतीय परम्परा क मूल्यो को उन्होंने आत्मसात किया था जिसकी औचित्य-परक अभिव्यक्ति का ज्वलन्त प्रमाण उनका काव्य है। जीव और ब्रह्म का एक्य उन्होंने स्फुलिंग—अग्नि कण धूली तरग-जल, आदि अन्यान्य उदाहरणो स पुष्ट करने का प्रयत्न किया है—

'जसे एक आग ते कनूका कोट आग उठ
न्यारे न्यारे हुइक फेरि आग मे मिलाहिगे ॥
जैसे एक धूर तें अनेक धूर पूरत है
धूर के कनूका फेर धूर ही समाहिगे ॥
जैसे एक नद ते तरग कोट उपजत है
पानि के तरग से बे पानि ही कहाहिगे ॥
तसे बिस्व रूप ते अभूत भूत प्रगट हुइ
ताही ते उपज सबै ताही में समाहिगे। [3]

कितना स्पष्ट कहा है कि सभी जीव उस ब्रह्म से उत्पन्न हुए है और उसी म समा जावगें।

---

1 प 1206 5 27

2 प 274 5 8

3 अकाल उस्तुति

लौकिक जीव सत्सगति द्वारा लौकिकता से ऊपर उठता है। धीरे धीरे वह साधु सत ज्ञानी, गुरु आदि अ याय अवस्थाओ को पार कर ब्रह्म ज्ञानी हो जाता है। यद्यपि यहा गुरु को बहुत उच्च स्थान दिया गया है, तो भी सामान्यत ब्रह्मत्व म परिणत नही किया गया। इस दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी का सर्वोच्च स्थान मिला है। 'ब्रह्मगिआनी आपि परमसुर न केवल वह स्वत परमेश्वर बनता है अपितु सम्पूण सष्टि का विधाता 'पूण पुरष भी बन जाता है और अन्ततोगत्वा वही 'ब्रह्मगिआनी आपि निरकार'[1] निरकार म परिणत हो जाता है। ऐसी अवस्था म जीव की सत्ता बच ही कहा जाती है।[2]

गुरु नानक की प्रगाढ अनुभूति मे जीव की ब्रह्म से ऐक्य की जो अभिव्यक्ति है उसे पचम गुरु अर्जुनदेव ने बौद्धिक प्रश्रय भी प्रदान किया है और दशम गुरु गोबिन्द सिंह ने तो उदाहरणो से उस अनुभूति को उपयुक्त बौद्धिक सम्बद्धता भी प्रदान की जो अनुभूत व्यक्तियो के लिए ही न होकर सामान्य बौद्धिको के लिए भी उपयोगी है।

चौबीस अवतार म भी उन्होने इसी भाव को और शब्दो मे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। स्वत अन त रूप धारण कर वह पुन उन सबको अपने म ही लीन कर लेता है—

आपन रूप अनन्तन धरही। आपहि मध्य लीन पुन करही।।[3]

इस सष्टि का तो निर्माण ही लीला के लिए हुआ है और जीव उसका सक्रिय अग है—

'खेल खेल अखेल खेलन अन्त को फिरि एक।[4]

सभी गुरुओ की विचारधारा की परम्परा म दशम गुरु गोबिन्द सिंह की वाणी पर विचार करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि धीरे धीरे जीव का अज्ञानान्धकार नष्ट होता जाता है और वह सासरिकता से मुक्त होकर ब्रह्म म ही अपने व्यक्तित्व का तिरोहण कर उसी म सदा के लिए लीन हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म से पूण ऐक्य ही जीव का साध्य है।

● ● ●

---

1 अकाल उस्तुति 274 5 8

2 विशेष विवरण के लिए देखें, लेखक की कति 'श्री गुरु ग्र थ साहिब—एक परिचय , प 183—184

3 चौबीस अवतार श्री दशम गुरु ग्रथ खण्ड 1 छन्द 3

4 जापु साहिब, दशम ग्रथ, छन्द 81

• • • 'भक्ति और शक्ति के पुंज-गुरु गोविन्द सिंह'

राजनैतिक अत्याचार तथा धार्मिक असहिष्णुता में होते हुए भी भक्ति की जो लहर मध्य-युग में प्रसरित होती चली आ रही थी, उसके उपयुक्त विकास के लिए राजनैतिक अन्याय तथा धार्मिक संकीर्णता का विरोध करने के लिए जिस नैतिक एवं क्रियात्मक शक्ति की अपेक्षा थी, वह गुरु गोविन्द सिंह के माध्यम से अवतरित हुई। उनकी भक्ति ने आडम्बरों का खण्डन कर न केवल उनको धार्मिक नेता ही बना दिया था, अपितु सिक्ख धर्म का उन्नायक भी सिद्ध किया और उनकी शक्ति ने उन्हें न केवल औरंगजेब के अत्याचारों का विरोध करने का शौर्य साहस एवं अदम्य प्रेरणा प्रदान की, अपितु निष्प्राण हत प्रभ, शौर्य हीन, दीन, सुप्त हिन्दू जाति को अत्याचार का विरोध करने के लिए एक बार फिर से तलवार उठाने का क्रियात्मक पाठ भी पढ़ाया। इतना ही नहीं, औपचारिकता परक जात-पात के बंधनों को तोड़कर सामाजिक विषमताओं एवं अनाचारों का विरोध करके भी वे सामाजिक नेता बन गये और आर्थिक दरिद्रता को दूर करने के लिए उन्होंने जहाँ एक ओर पागा, वेश धारी, भिखमंगे साधुओं को दुत्कार कर कर्मण्य-जीवन व्यतीत करने का संदेश दिया, वहां अनुचित साधनों से धन एकत्रित करने वाले धनपतियों एवं राजाओं का विरोध कर कृत्रिम एवं अनुपयुक्त आर्थिक विषमता को दूर करने का भी भरसक प्रयत्न किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व ने तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन को इस प्रकार आन्दोलित कर दिया कि उस युग के सांस्कृतिक जीवन में ही आमूल-चूल परिवर्तन आरम्भ

हो गया। युग को बदल देने वाला नेता अवश्य महान् होता है, और गुरु गोविन्द सिंह का व्यक्तित्व इसका सबल प्रमाण है। उन्होंने ब्रह्म-तत्व को अवश्य ही आविर्भूत कर लिया था।

संवत 1723 पौष सुदी सप्तमी (26 दिसम्बर, 1666) को पटना में जन्म लेने वाले गुरु तेग बहादुर के पुत्र गोबिन्द राय को जीवन के आरम्भिक पांच छः वर्ष यहीं बिताने पड़े। तब आनंद पुर साहिब (पंजाब) की ओर आते समय उन्होंने प्रायः सभी तीर्थों की यात्रा की। बनारस, प्रयाग, अयोध्या लखनऊ, कानपुर मथुरा तथा वृन्दावन आदि सभी स्थलों के उन्होंने न केवल दर्शन किए, अपितु वहां के धार्मिक पण्डितों के सत्संग का सौभाग्य भी उन्हें मिला। आयु छोटी होने के कारण उन्हें इसका वैयक्तिक-बौद्धिक लाभ न भी हुआ हो परन्तु उस वातावरण से भारतीय-संस्कृति के जो तत्व संगृहीत हुए, वे अनायास ही उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गए। उन्हीं से उनका जीवन और साहित्य अनुप्राणित रहा।

पटना के नवाब की सवारी आती देखकर चोबदार ने खेलते हुए गोविन्द राय एवं बच्चों को उसे सलाम करने के लिए खड़े होने को कहा—लेकिन उनका स्वाभिमान जाग उठा और विद्रोही स्वर में न केवल उन्होंने स्वतः झुक कर सलाम करने की मनाही कर दी अपितु अपने मित्रों को भी ऐसा करने से मना कर दिया। इस छोटी सी घटना से उनमें उभरते हुए स्वाभिमान, साहस, निर्भीकता एवं औचित्य परक दृष्टि का परिचय मिलता है। न्याय प्राप्ति के लिए विद्रोही बनकर शक्ति का आश्रय लेना उनका स्वभाव बन गया था। इस प्रकार बचपन से उचित संस्कारों तथा उपयुक्त वातावरण में से वे भारतीय संस्कृति के अनुरूप तत्वों को संगृहीत कर अपने चरित्र का विकास कर रहे थे।

आनन्दपुर साहिब आकर गुरु तेगबहादुर को पता चला कि औरंगजेब की नीति का पालन करते हुए शेर अफगान काश्मीर के हिन्दुओं पर अत्याचार करता हुआ उनका धर्म परिवर्तित कर उन्हें मुसलमान बनने पर विवश कर रहा है। तब नवाब से कुछ समय मांग कर वे ब्राह्मण अपने धर्म की रक्षार्थ गुरु जी के पास आए। पर्याप्त विचार विनिमय और चिन्तन के बाद गुरु इस परिणाम पर पहुंचे कि इस समय धर्म की रक्षार्थ महान बलिदान की आवश्यकता है। गुरु को उदास एवं चिंतित देखकर बालक गोविन्द राय ने कारण पूछा तो पता चला कि औरंगजेब के इस धार्मिक अत्याचार को रोकने के लिए किसी महान् व्यक्ति

के बलिदान की आवश्यकता है। अनायास ही बालक बोल उठा 'पिता जी आपसे बढ़कर महान व्यक्ति कौन हो सकता है? सो आपका बलिदान सर्वो त्कृष्ट होगा। बालक के इन वचनों ने न केवल गुरु की चिन्ता हर ली, अपितु गुरु जी को इस ओर से भी निश्चिन्त कर दिया कि उनका उत्तराधिकारी बालक निश्चित ही प्रतिभा सम्पन्न विचारक, साहसी शक्तिशाली तथा बलिदान और त्याग की भावनाओं से अभिसिंचित होकर अत्याचार का विरोध करने की क्षमता रखता है और गुरुजी ने ब्राह्मणों द्वारा कहलवा भेजा कि यदि गुरु तेग बहादुर मुसलमान हो जावेंगे, तो हम भी अपना धर्म बदल लेंगे। यह हम पता ही है कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह। (अपने धर्म में मरना अच्छा है लेकिन दूसरों का धर्म अपनाना भयानक है) का पाठ पढ़ाने वाले गुरु ने जीवन का बलिदान दे दिया पर धर्म परिवर्तन नहीं किया। इन तीन चार वर्षों में आनंदपुर में गुरु तेगबहादुर ने बालक की अस्त्र-शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा का ऐसा ठीक प्रबंध कर रखा था कि बालक के व्यक्तित्व का औचित्य परक सर्वांगीण विकास आरम्भ हो गया था। इसीलिए ऐसी विपत्ति के समय भी उन्होंने धैर्य न छोड़कर (विपदि धैर्यम्) हिन्दू संस्कृति के अनुरूप अपने महान व्यक्तित्व का परिचय दिया। पिता के इस महान बलिदान ने जहां एक ओर हिन्दू धर्म में उनकी, आस्था निष्ठा और श्रद्धा को बढ़ाया वहां अत्याचार का विरोध करने के लिए अत्याचारियों से डटकर मुकाबला करने की शक्ति और प्रेरणा भी दी। उनके साहस और शक्ति के मणि-कांचन संयोग का ही परिणाम है कि अनायास ही उनके मुख से निकल पड़ा—

> चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ।
> तब गोविन्दसिंह नाम कहाऊं॥

अत्याचार का विरोध करने के लिए तथा धर्म जाति और देश की रक्षा के लिए जिस अदम्य साहस और शक्ति का उनमें संचार हुआ था उसी का परिणाम है कि सवा लाख शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए उनका एक एक वीर ही पर्याप्त था।

पिता के बलिदान के साथ ही 'नौ वर्ष के बालक' को गुरु बनना पड़ा। यह सच है कि इन विपदाओं ने उनमें अनायास ही 'महत्-तत्व' को उभार दिया और इसी में उनके गुरु बनने की सार्थकता निहित है। छोटे से बालक को 'गुरु' रूप में देखकर लोगों में ईर्ष्या बढ़ गई। राजा भीमसिंह ने उनके हाथी की भीख मांगी और और टका सा जवाब पाकर आक्रमण कर दिया। युद्ध में मुंह

की खाकर उसे पता चला कि—

'गुणा पूजास्थान गुणिपु न च लिंग न च वय ।

व्यक्ति की आयु या लिंग के कारण ही नहीं, अपितु गुणो के कारण पूजा होती है और इस दृष्टि से गुरु जी अदभुत मानवीय गुणो के भडार हैं । फिर भी छोटे छोटे पहाडी राजाओं तथा मुगल सरदारो की ईर्ष्या और द्वेष ने उन्हे अनेक युद्ध लडने पर विवश कर दिया । भगाणी, नदौण, हुसैनी अथवा गुलेर के युद्धो म हम उनकी वीरता, साहस एव राजनैतिक कौशल का भी परिचय मिलता है ।

आनन्दपुर साहिब मे दस वष रहने के बाद तीन वष उन्होने पाओटा साहिब मे बिताए और पुन जीवन का महत्त्वपूण अश अगले अठारह वष फिर आनन्दपुर साहिब मे ही बिताए, जब तक लडाइयो स तग आकर और विवश होकर उन्हें आनदपुर साहिब नही छोडना पडा। भगाणी के युद्ध के बाद ही कई किले बनवाकर उन्होंने अपने राजनतिक कौशल का परिचय दिया । स 1746 म लगभग उन्होंने जीवन के चार पाच वष शातिपूण बिताए । इसी समय उन्होने रामायण, महाभारत के वीरो, हनुमान तथा चडी के वीरता पूण कार्यों को सुना कर अपने योद्धाओ को साहस और अदम्य-प्रेरणा प्रदान की । उनके जीवन मे जो हिंदुत्व ओत प्रोत था, उसी से अनुप्राणित होकर सस्कत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होने पाच ब्राह्मणो को काशी भी भेजा था ।

वस्तुत उनका भक्त, योद्धा, साहित्यकार और समाज सुधारक सदा ही एक साथ जागरूक रहा है । परिस्थितियो के प्रसाद-स्वरूप कभी किसी का और कभी किसी का अपेक्षाकत अधिक महत्त्व रहा । लेकिन कुल मिलाकर इनके माध्यम से ही उनका व्यक्तित्व उभरता रहा है । इसी के परिणाम स्वरूप वे उस युग मे हिन्दुत्व की सास्कतिक चेतना जागत कर सके ।

गुरु गोविन्द सिंह के जीवन की सबसे महान् घटना है— खालसा पथ का साजना' भारतीय सस्कृति के अनुरूप, तप त्याग सेवा और साधना से हिंदू जाति, धम और देश की रक्षा करते हुए उन्हें समाज म नव रक्त का सचार करने की आवश्यकता अनुभव हुई । गुरु के प्रति समाज में जिस विश्वास श्रद्धा और निष्ठा की आवश्यकता थी, उसका उन्हें बहुतायत से अभाव अनुभव हुआ । प्रतिभा-सम्पन्न गुरु को अदभुत साधन सूझा । अनन्य विश्वास परायण त्याग की साक्षात प्रतिमा, धम के लिए बलिदान देने वाले व्यक्तियो को ही समय की पुकार के अनुरूप उन्होने उत्कष्ट मानव अनुभव किया । उन्होंने बडा भारी आयो-

एव ईर्ष्या भी प्रवल हो उठी। उसके भेजे हुए सेनापतियो के आक्रमण स्वरूप गुरु गोविन्द सिंह को आनदपुर मे ही बहुत देर तक घिरे रहना पडा। एक बार जबकि रसद आदि लगभग समाप्त होने लगी थी तो बहुत से सिक्खो ने गुरु से आग्रह किया कि अब यहा रुकना सुरक्षित नही, सो यहा से निकल चलें। गुरु जी उनसे सहमत न हो सके, तो वे चालीस सिख 'बेदावा (अर्थात व गुरु को गुरु नहीं मानते और गुरु का उन पर कोई अधिकार नही) लिख कर चले गए। बाद मे शाही सेना ने सौगन्ध खाकर किले से बाहर निकलने पर कुछ न कहने का वचन दिया, लेकिन निकलते ही उन पर आक्रमण कर दिया। और इधर गगू ब्राह्मण के लोभ ने गुरु के दो पुत्रो को सरहिंद के नवाब तक पहुँचा दिया तथा दूसरे दो पुत्र भी चमकौर के युद्ध मे काम आ गए।

भारतीय सस्कृति मे पले हुए गुरु ने विपत्ति मे भी धैर्य न छोड़कर अपने महान होने का परिचय दिया समय पर उनका यह धैर्य पूर्ण व्यवहार काम भी आया। वे ही चालीस सिख गुरु जी की सहायता करने के लिए स्वत ही चले आए और युद्ध मे जीवन दान देते हुए जब एक बचा तो उसने गुरु जी से यही वरदान मागा कि गुरुवर वह 'बेदावा फाड दिया जावे। क्षमाशील गुरु ने उसे प्रसन्न करते हुए अपनी उदारता का भी परिचय दिया। आतरिक विद्रोह के विरुद्ध यह उनकी नैतिक विजय थी। इससे सभी शिष्यो को विघटित न हो कर सगठित होने का सदेश भी मिला।

शाही सेना के सौगध तोडने की प्रतिक्रिया हुई। राजनैतिक एव साहित्यिक क्षेत्र मे औरगजेब के अत्याचारो के प्रति जो उनकी द्वेषमयी दृष्टि थी वह और भी प्रखर हो गई। अभी पित ऋण तो चुका ही न सके थे, अब पुत्र ऋण भी चढ गया। गुरु जी की धमनियो मे रक्त प्रवाह और भी तीव्र हो गया। सख्या मे कम होने के कारण सैनिक दृष्टि से अपेक्षाकृत दुबल होते हुए भी उन्होने 'सिंहो' मे इतना नैतिक बल भरा कि एक एक मे सवा लाख शत्रुओ से लडने की शक्ति आ गई थी। उन दिनो औरगजेब को लिखा गया उनका पत्र (जफरनामा) उनके नैतिक बल की सशक्त साहित्यिक अभिव्यक्ति का परिचायक है। उस युग की परिस्थितियो के अनुरूप औरगजेब के लिए इससे बडी फटकार हो भी क्या सकती थी ? वैयक्तिक जीवन के मूल्य के कारण उस पर इसका चाहे प्रभाव बहुत कम हुआ हो।

इसके विरुद्ध गुरु जी का दृष्टिकोण कितना सावजनिक एव मानवीय था, इसका पता इस बात से चलता है कि उन्होने भाई मोहन सिंह का कह रखा

था कि युद्ध मे प्रत्येक को जल पिलाओ, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, मित्र हो या शत्रु। इतना ही नही मरहम पट्टी करने वालो को भी उनका यही सदेश था कि मित्र और शत्रु के भेद को भुलाकर आहतो का उपचार किया जावे। उनके युद्ध भी भारतीय सस्कृति के अनुरूप 'धर्म युद्ध' थे। मुस्लिम-सस्कृति के मूल्यो के अनुरूप न बैठने के कारण कई बार उन्हें धोखा भी हुआ, हानि भी उठानी पडी पुत्रो का बलिदान तक कर दिया। लेकिन अपने सास्कृतिक मूल्यो को न छोडा इसी से उनका जीवन और कतित्व भारतीय परम्परा को न केवल सफलता-पूर्वक सुरक्षित रखने अपितु आगे बढाने का भी सफल प्रयास है।

धर्म के लिए उनके पुत्रो ने जिन्दा दीवार मे चुने जाकर हिन्दू धर्म और सस्कृति की रक्षार्थ प्राण उत्सर्ग करने वाले अमर वीरो मे अपना नाम प्रथम पक्ति में अकित करवा लिया है। यह भारतीय इतिहास का एक और अविस्मरणीय पृष्ठ है। सच तो यह है कि इस अमानवीय अत्याचार के विरुद्ध मुस्लिम नवाब ने सरहिंद के नवाब का विरोध भी किया था, लेकिन अत्याचारी ने उस की एक न सुनी। बाद मे मालेरकोटला नवाब को उसकी मानवोचित गरिमा के कारण गुरु जी ने आशीर्वाद भी दिया था। कहते है—जो लिखित रूप मे आज भी उसकी परम्परा के पास अमूल्य निधि के रूप मे सुरक्षित है। यह गुरु जी की धर्म निर्पेक्ष मानवीय दृष्टि का परिचायक है। चमकौर के युद्ध मे काम आने वाले गुरु-पुत्र अजीत सिंह और जुझार सिंह के शवों को देखकर जब भाई दया सिंह ने उन्हे चादर से ढकने की आज्ञा मागी तो मानवीय गुरु ने मृत पुत्रो को आशीर्वाद तो अवश्य दिया लेकिन उन्हे कहा कि इनको तभी ढका जाय यदि अन्य सब मृत वीरो को ढका जा सके। परन्तु उस दिन ऐसा नहीं हुआ क्योकि सबको नही ढका जा सकता था। भारतीय सस्कृति मे पले होने के कारण ही गुरु मे यह उदात्त व्यापक एव उपयुक्त मानवोचित दृष्टि विकसित हुई थी, इस विकट समय मे गुरु का विचलित न होना उनकी महत्ता का परिचायक सिद्ध हुआ और चारों पुत्रो की मृत्यु के बाद जब उनकी मा ने असमर्थता पूर्वक उन्हें ढूढने का प्रयत्न छोडकर गुरु जी से उनके विषय मे पूछा तो उसके उत्तर मे जिस महत्त्व के दर्शन होते हैं, वह निश्चित रूप से उनके त्याग-पूर्ण उदार एव व्यापक दृष्टिकोण का सशक्त प्रमाण हैं —

> इन पुत्रन के कारने वार दिए सुत चार।
> चार मुए तो क्या हुआ जीवत कई हजार।

यह कह कर जिस 'खालसा-पथ' को उन्होंने सजाया था, उसके सभी सभासदों को न केवल उन्होंने अपना पुत्र बना लिया, अपितु उनमें भी यह भावना भर दी कि वे सब गुरु गोबिन्द सिंह की ही संतान हैं। यह भावना न केवल उस युग में ही परिचालित हुई, अपितु आज तक उन्हें 'दशमेश पिता' की संज्ञा इसी लिए प्राप्त है क्योंकि न केवल 'खालसा पथ' का उन्नयन करने के कारण वे इसके ब्रह्मा ही थे, अपितु संवर्धन और रक्षण का उत्तरदायित्व निभाने के कारण वे इसके विष्णु भी थे। धन्य है उनका यह व्यापक एवं सहज आत्मीय दृष्टिकोण। अपने पुत्रों का बलिदान देकर शिष्य पुत्रों को पुत्रों से भी बढ़ कर समझना। विश्व के इतिहास में इने गिने ही ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनका भारतीय-परम्परा में शक्ति पूर्वक निर्वाह हुआ है।

गुरु गोबिन्द सिंह के जीवन का अंतिम महान् कार्य है, 'आदिग्रन्थ' में अपने पिता नवम गुरु तेग बहादुर की वाणी मिला कर उस ग्रंथ का गुरु 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' बना देना। गुरु घर से सम्बन्धित अन्यान्य लोगों ने आरम्भ से ही अपने को गुरु गद्दी का अधिकारी बताया था। यह विकृत भावना 'नपत्व' की तरह परस्पर की कलह का कारण न बन जाए तथा जीवित उपयुक्त गुरु का अभाव देखकर उन्होंने 'ग्रन्थ' को ही विधिवत 'गुरुत्व' सौंप दिया। मानव की अन्तिम दुर्बलता यश प्राप्ति से गुरु जी यहां भी बचे रहे। वे चाहते, तो स्वतः अनायास ही उसमें अपनी वाणी मिला कर भी गुरुपद के भागी हो जाते लेकिन उन्होंने अपने को इससे अलग ही रखा। यह उनके त्याग का चरम था। लौकिक-एषणाओं के बन्धनों को तोड़ कर एकदम ऊपर उठ गए थे, इसलिए अपने पिता के घातक और पुत्रों के विनाशक औरंगजेब का ऋण चुकाया उन्होंने उसके पुत्र को सफलता का आशीर्वाद और नैतिक सहायता देकर। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब पुत्रों में लड़ाई हुई तो भाई नंदलाल जी शाहजादा मुअज्जम के पास थे। उन्हीं के कहने पर इसमें मानवीय धर्म के तत्व अपेक्षाकृत और अधिक देखकर गुरु ने अपनाया था। वह विजयी होकर बहादुर शाह बना और गुरु जी का मित्र भी। दोनों सद्भाव पूर्ण ढंग से आगरा में मिले और उनका निमंत्रण पा कर गुरु जी वहां रहे भी। लेकिन जागीर आदि देने की बहादुरशाह की इच्छा को उन्होंने बड़ी नम्रता पूर्वक ठुकरा दिया। इस्लाम के माध्यम से भारतीय धर्म के प्रचार का तथा सभी प्रकार से प्रजा को प्रसन्न रखने का सदैव और इसी अवस्था में सफलता पूर्वक राज्य करने का आशीर्वाद देते हुए वे दक्षिण की ओर चल पड़े। उसने भी अपने पिता के अन्याय एवं अत्याचार पूर्ण व्यवहार के

लिए पश्चाताप किया। शत्रु का भी प्रेम और आत्मीयता से मित्र बनाने वाली भारतीय संस्कृति गुरु गोविन्द सिंह की रग रग में समाई हुई थी उनका यह व्यवहार इसका ज्वलंत प्रमाण है।

दक्षिण की ओर जाते हुए उन्हें माधव बैरागी मिला। योग का प्रभाव दिखाते हुए उसने वहां के लोगों को चमत्कृत किया हुआ था। जब वह गुरु जी को अपने चमत्कार से प्रभावित न कर सका, तो उसने श्रद्धा पूर्वक गुरु गोविन्द सिंह का शिष्यत्व स्वीकार किया। अत्याचार का विनाश करने के लिए उत्तर में शक्ति का संगठन करने के लिए गुरु ने उसे पंजाब भेजा। उसने भी बन्दा बैरागी के रूप में वीरता पूर्ण ढंग से अपने कर्त्तव्य को निबाहने का प्रयत्न किया।

इधर सरहिंद का नवाब वजीर खां बहादुर शाह के साथ गुरु का प्रेम बढ़ता हुआ देखकर उनका जानी दुश्मन बन गया था। उसने दो पठानों को गुरु की हत्या के लिए उनके पीछे लगा दिया था। जब गुरु दक्षिण में नादेड़ पहुंचे तो वे भी श्रद्धालु भक्तों का रूप धारण कर नित्य ही उनके उपदेश सुना करते थे। एक दिन अवसर पाकर एक पठान ने उनके पेट में छुरा घोंप दिया। शीघ्र ही गुरु शिष्यों ने तलवार से उनकी हत्या कर दी। उनका जख्म सिया गया। लेकिन खून बह जाने के कारण दुर्बल हो गए थे। धीरे धीरे कुछ आराम आने लगा। लेकिन एक दिन धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हुए उनका जख्म खुल गया, रक्त बह निकला पुनः ठीक न सिया गया। ऐसी अवस्था में उन्हें अपना अंत समय निकट दीखने लगा। तब उन्होंने उपस्थित शिष्यों को पास बुलाया उन्हें उच्च आचरण एवं मर्यादा में रहते हुए धर्म पालन का संदेश दिया। और विधिवत श्री गुरु ग्रंथ साहिब को गुरु पद पर आसीन कर लगभग 42 वर्ष की आयु में महान ज्योति में विलीन हो गए।

'आगिया भई अकाल की तबी चलाइओ पंथ।
सब सिक्खन को हुक्म है, गुरु मानियो ग्रन्थ।
गुरु ग्रन्थ जी मानिओ प्रकट गुरां की देहु।
जो प्रभु को मिलबे चहै खोज शब्द मे लेहु।'

लेकिन देह का त्याग कर गुरु अमर हो गए। और 'शब्द के माध्यम से प्रभु को खोजने का संदेश देते हुए श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' को भी उन्होंने अमर गुरुत्व प्रदान कर दिया। सम्भवतः सिक्ख धर्म को यही उनकी सबसे बड़ी देन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के बहुत से तत्वों को

उन्होने न्यायदय के रूप म पाया था। कुछ सहज सस्कारा के रूप म अनायास ही उनके व्यक्तित्व मे थे और बहुत कुछ उ होने प्रयत्न अर्जित भी किए हैं। प्राचीन शास्त्रा का श्रवण एव अध्ययन करने के कारण तथा भारतीय सस्कृति के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा ने अनायास ही उनके व्यक्तित्व को भी पूणतया भारतीय बना दिया था। हिन्दू धम दशन, साहित्य, कला, रीति-रिवाज, परम्पराग्रा, आचार-व्यवहार एव मान्यताग्रो का न केवल उनको ज्ञान ही हो गया था, अपितु उन्हाने इन्हें जीवन म चरितार्थ कर साहित्य मे अभिव्यक्ति भी प्रदान की। इसी लिए उनके व्यक्तित्व एव कतित्व मे अदभुत सतुलन था। आन्तरिक शक्ति ने ही उनकी बाह्य शक्ति को द्विगुणित कर दिया था। इसी लिए ये सशक्त शत्रुओ से सारी उमर जूझते रह, लेकिन हिम्मत न हारी अत्याचार का विरोध करते रह पर अत्याचारियो के प्रति द्वेष दष्टि विकसित न की। योद्धा बने रहे पर भक्ति का सम्बल न त्यागा, नवीन धम की स्थापना की पर पुरातन धम का परिहार न किया, समाज का सुधार किया, पर समाज से दबे नही, धम का विकास किया, पर मात्र धम म ही रमे नहीं। कमण्य जीवन व्यतीत किया, लेकिन दुष्कर्मों मे परिचय नही किया, बाह्याचारो का विरोध किया, लेकिन सदाचार त्यागा नही बाह्याडम्बरो का परिचय पाया लेकिन उसमे फस नही, गुरु पद को सम्भाला, पर उसका अभिमान जगाया नही, शिष्यो को सिख बनाया पर उनम उलझे नही बहुत धन पाया पर उसे अपनाया नही और आदि ग्र थ को गुरु बनाया, पर उसम अपना एक भी शब्द नहीं रचा। जीवन की यह विपम विविधता ही उनके महान व्यक्तित्व की परिचायिका है।

तप, त्याग सेवा और साधना के जिस अदभुत सतुलन ने उनके चरित्र को जो गरिमा प्रदान की थी उसी के कारण उन्हाने भोगो को भोगकर भी नहीं भोगा, क्योंकि उनकी दष्टि त्यागमयी थी ऐश्वय को प्राप्त कर भी उसका उपयोग नही किया, क्योकि उनकी दष्टि निवत्तिपरक प्रवत्ति का आश्रय लिए हुए थी। गुरु-पद पाकर भी उसकी गरिमा नहीं जतलाई क्योंकि उनका 'अहकार उदवेलित न था समाज का सुधार करके भी उस पर अधिकार न जमाया क्योकि वे अधिकार की भावना से प्रेरित न थे। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि राजनैतिक अत्याचारो म पिसती हुई जनता को उन्होने उसका विरोध करने की नैतिक एव शारीरिक शक्ति प्रदान की सामाजिक बाह्याडम्बरा म फसे हुए मानव-समाज को आडम्बरो का विरोध कर उनके अन्तर्निहित सत्य का बोध करवाया, धार्मिक दृष्टि से विशृ खलित जन समुदाय को 'नाम और 'भक्ति

का क्रियात्मक पाठ पढ़ा कर धर्मानुग किया, और आर्थिक दृष्टि से शोषित एवं अकर्मण्य समाज को निष्काम कर्मण्यता का संदेश देकर समृद्ध करने का प्रयत्न किया। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, हार्दिक एवं आत्मिक सभी दृष्टियों से उनके व्यक्तित्व का ऐसा विकास हुआ था कि लौकिक होते हुए भी वे अनायास ही अलौकिक बन गए थे—

> 'देहि सिवा बर मोहि इहै,
> सुभ करमन ते कबहू न टरौं।'

का स्वतः जीवन भर पालन करने और उद्घोष करने वाले गुरु ने भक्ति को शक्ति का ऐसा सम्बल प्रदान किया कि वह भारतीय जन-जीवन का गौरव बन गई और उसी रूप में विकसित होती चली आ रही है। यही उनके जीवन की सफलता का रहस्य है, जिसे युग युग तक हिन्दू धर्म, जाति और यह देश भुला न सकेगा।

• • • मध्ययुगीन निर्गुण चेतना

पैतक सम्पदा मे प्राप्त आर्थिक दरिद्रता और नैतिक समद्धि सतो के जीवन का सबसे बढा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कमण्यता इस आर्थिक दरिद्रता का ही वरदान है और आतरिक गुणो के विकास के कारण प्रखर व्यक्तित्व इस नैतिक समद्धि की ही देन है। लौकिक एव पारलौकिक जीवन मे अदभुत सतुलन और समन्वय स्थापित कर गौरव मय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले सन्तो ने समय समय पर समाज का पथ प्रदशन कर युग-नेता का रूप ग्रहण किया है। वस्तुत सन्त कोई व्यक्ति विशेष न होकर भावना विशेष है, जिसका प्रसार अन्यान्य युगो में विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से हुआ है। यदि सूक्ष्म दष्टि से देखा जाए तो पता चलता है कि इस भावना विशेष के मूल तत्वो म प्राय परिवतन नही होता। युग की आवश्यकता और व्यक्ति की रुचि तथा सामथ्य के अनुरूप इन तत्वों के अनुपात और क्रियात्मक प्रसार मे थोडा बहुत अन्तर आता रहता है पर इसकी मूल भावना मे कोई विशेष अन्तर नही आता।

भारतीय मध्य युग के इतिहास को साथक बनाने के लिए ही मानो इस भावना का यहा विकास हुआ, जो कबीर जैसा सन्वत व्यक्तित्व पाकर अपने प्रौढ़ रूप मे प्रतिफलित हुई। समाज के तथाकथित निम्नवग से अदभुत इन सन्तो को समाज ने ठुकराने का दु स्साहस एकत्रित किया, लेकिन कौन जानता था कि यह दु स्साहस सन्तो को ही वह अदम्य शक्ति प्रदान करेगा कि वे इस आडम्बरपूर्ण समाज को ही ठुकरा कर अपने पीछे लगा लेंगे। समाज के इस दुस्साहस ने उन्हें तन कर खड होने की शक्ति प्रदान की। उन्हें अपनी

नारि, गामथ्य और मान्यताओं पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। इस आत्मनिष्ठा और आत्मविश्वास के बल पर वे न केवल स्वयं ही उठे हुए अपितु समाज के कुछ व्यक्तियों को भी उठा। अपने साथ ला पाया। यह उनकी सफलता का पहला चिह्न था। धीरे धीरे समाज उनकी पुकार सुनने पर विवश हो गया। फक्कड़मस्ती में कही गई बातों ने समाज का धर्मावाग ही प्रभावित करना आरम्भ किया क्योंकि उनके यथार्थ चित्रण में सत्य का बल था जिसकी बहुत देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार सन्त भावना, जो अब तक व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती थी अब अविच्छिन्न धारा के रूप में सामाजिक परम्परा ही बन गई। मध्ययुगीन भारतीय समाज को इन सन्तों का यह सबसे बड़ी देन है। यह अविच्छिन्न सामाजिक परम्परा ही सन्तों की सामान्य मान्यताओं की साधन भूमि है। उस परम्परा में चली आने वाली मान्यताओं में कोई परिवर्तन न हुआ हो ऐसी बात नहीं लेकिन इस परिवर्तन का सम्बन्ध उनके मूल तत्वों से न होकर उनकी अभिव्यक्ति या उनके बाह्य आवरण मात्र से ही अधिक है। इस प्रकार कबीर से कुछ पहले से ही सन्त विचारधारा के जो तत्व विकसित हो रहे थे वे न केवल कबीर में पूर्णतया विकसित और समृद्ध होकर प्रकट हुए अपितु देर तक समाज को प्रभावित करने वाली सशक्त विचारधारा के रूप में तब से उसकी अविच्छिन्न परम्परा भी प्रवाहित हो चली जो आज तक इस देश में उसी तरह जीवित और जागृत है। सच पूछा जाए तो रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी श्री अरविन्द तथा विनोबा भावे उसी परम्परा के आधुनिकतम फल हैं।

सन्तों का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओं की आधार भूमि है। लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना उन्होंने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। सांसारिक विषमताओं से घबरा कर वे जंगल में भाग कर ब्रह्म की साधना करने नहीं चले गए, बल्कि कर्मण्य जीवन बिता कर उनसे जूझ पड़े, इस प्रकार लौकिक उलझनों को क्रियात्मक जीवन के माध्यम से अनायास ही उनकी परलोक की साधना भी होती रही। वे न कभी मन्दिर गए, न मूर्ति पूजा की। व्रत तीर्थ स्नान उपवास और माला फेरने से भी वे कोसों दूर रहे फिर भी इस प्रकार के आचार प्रधान ब्राह्मणों से भी वे कहीं धार्मिक बने रहे। इन ब्राह्मणों ने पार्थिव और पारलौकिक जगत में समाज के लिए जो खाई खोद रखी थी, वैयक्तिक विचार और आचार से इन्होंने न केवल

उस भर दिया, अपितु जन मानस के लिए प्रशस्त राजपथ का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वस्थ आचरणगत जीवन इनकी सामाजिक मान्यताओं का सबसे सबल आधार है।

समाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का उन्होंने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हें जो आंतरिक शक्ति प्रदान की थी, उसी के बल पर वे इन समस्याओं से घबराए नहीं। यह ठीक है कि वैयक्तिक सामर्थ्य की सीमाओं के कारण वे इनमें से बहुत कम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके, लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये विषमताएं उनके व्यक्तित्व को विश्रृंखलित न कर सकीं और व सदा इनसे जूझते ही रहे—भागे कभी नहीं और इसीलिए हार भी कभी नहीं। धार्मिक आडम्बरों और आवरणों का उन्होंने खुल कर विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया और यथासम्भव उन पर भी कुठाराघात किया। राजनैतिक अत्याचारों से जूझते-२ उन्होंने सिर तक कटा दिया, पर उसे झुकने नहीं दिया, यह क्या कम है। और आर्थिक दरिद्रता से अपने को उभारने के लिए कोई जीवन भर कपड़ा बुनता रहा तो कोई जूतियां ही गांठता रहा—यह उनके जीवन की महानता नहीं तो और क्या है? कुल मिलाकर समाज की किसी भी शक्ति के प्रहार से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विघटित नहीं होने दिया यही उसकी सफलता का रहस्य है। इसीलिए वे सन्त व्यक्तित्व की परम्परा में सत भावना की ज्योति को जीवित और जागृत रख सके। जीवन की सभी समस्याओं के प्रति उनकी वह सतुलित दृष्टि उनके सुरक्षित व्यक्तित्व की परम्परा को बनाए रख सकी।

इसी व्यक्तित्व के कारण उनकी जीवन और जाति के प्रति विशेष दृष्टि विकसित हुई। विश्व की चतुर्दिक समृद्धि और उसकी सामग्री उनके जीवन यापन में साधन से अधिक कोई स्थान न ग्रहण कर सकी। उनका लक्ष्य सदा ही इससे भिन्न रहा। इसीलिए उनमें कभी ईर्ष्या न हुई और उस साध्य की ओर बढ़ते हुए भी वे सब इकट्ठे ही रहे। अलौकिक साध्य को स्वीकार करने के कारण उनके जीवन दर्शन में एकरूपता के साथ स्थायित्व भी बना रहा। वस्तुतः जीवन दर्शन में इस समता ने ही भावना की नींव को दृढ़ता और स्थिरता प्रदान की।

वैयक्तिक जीवन में सभी संतों ने अनुभूति का महत्त्व स्वीकार किया है

श्रौर इसी श्राधार पर उन्होंने निरासक्त जीवन बिताया है। यह श्रनुभूति ही उनके धर्म की श्राधारभूमि थी। इसीलिए सामाजिक परम्परा में मान्यता प्राप्त आचारों को भी उन्होंने वहीं तक प्रश्रय दिया, जहां तक वे उनकी अनुभूति की कसौटी पर खरे उतरते थे। उन सामाजिक या धार्मिक आचारों और विश्वासों का उनके जीवन में कोई स्थान न था, जो उनकी श्रनुभूति की कसौटी पर पूरे न उतरते थे। इस प्रकार उनका जीवन वैयक्तिक अधिक था, सामाजिक कम।

इनकी जीवन दृष्टि मूलतः मानवतावादी थी। इसीलिए छीपी, दर्जी, नाई जुलाहा चमार श्रौर राजा सभी एक भक्ति के सूत्र में पिरोये जाकर 'संत माला' के जगमगाते माणिक बन गए। गत छह सात शताब्दियों में भारत में हजारों संत समुदायों ने जन्म लिया लेकिन इस मानवतावादी दृष्टि से कोई भी दूर न रह सका। धर्म, पंथ, वर्ग व जाति के आधार पर मानव समाज का विभाजन किसी ने भी स्वीकार न किया। इतना ही नहीं उत्तराधिकारी के चुनाव में भी इनमें से किसी आधार या पुत्र परम्परा को स्वीकार न किया गया अपितु जिस शिष्य में मानवीय तत्व सर्वाधिक विकसित हो सका उसे ही गद्दी का अधिकारी बनाया गया। वैयक्तिक स्वार्थों के कारण सदा ही इसके विरुद्ध विद्रोह हुआ है, लेकिन मानवतावादी दृष्टि इस विद्रोह के सम्मुख कभी झुकी नहीं—इसी से इसका महत्व स्पष्ट है।

संतों ने काव्य निर्माण का बीड़ा कभी नहीं उठाया था और न ही काव्यगत विशेषताओं से उनका कोई परिचय ही था। कभी कभी वैयक्तिक आह्लाद में वे गाने पर विवश हो गए थे। इस आन्तरिक विवशता में अनुभूति की जो अभिव्यक्ति हुई अथवा जन-सामान्य को जिस वाणी में उन्होंने अपना सन्देश दिया उसे हम उनका काव्य समझ बैठे। मूलतः काव्यत्व तो उनके सन्देश का बहुत गौण तत्व था, इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन करने वाले इनके साथ न्याय न कर सके। उनके सम्पूर्ण काव्य का प्रेरणा स्रोत वैयक्तिक आनन्द तथा सामाजिक संदेश रहा है अतः मूल्यांकन करते हुए हम इसे भुला नहीं सकते।

संत भावना की यह सामान्य पृष्ठभूमि थी, जिस पर विचारधारा विशेष का प्रासाद निर्मित हुआ। आगामी पंक्तियों में इसकी विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे निर्गुण चेतना का बोध हो सके।

संतों का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि कोटियों में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः संतों ने उसे

बौद्धिक या तार्किक पद्धति का आधार नहीं प्रदान किया। अत इस दृष्टि से उसकी उचित व्याख्या भी नही हो सकती। कबीर के ब्रह्म पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि वह न केवल इन्द्रियातीत है, अपितु वह तो निर्गुण सगुणातीत भी है। वह तो केवल अनुभूति का विषय है। इसीलिए उसके स्वरूप और गुणो की अन्यान्य व्याख्याओ के बाद भी कोई सत सतुष्ट नही हुआ कि वह समाज के लिए ब्रह्म के रूप का स्पष्टीकरण कर सका है।

उसका गुणगान करते करते 'सुर, नर, मुनि, जन' का तो कहना ही क्या स्वत ब्रह्मा तक थक गए लेकिन अनन्त का कोई अन्त न पा सके। उपनिषदो की तरह ब्रह्म की 'नेति' परक व्याख्या भी यहा मिलती है, उसे सर्वत्र, सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियता आदि स्वीकार किया गया है। मूलत निर्गुण वह अनिर्वचनीय है लेकिन गुणो के माध्यम से जब उसके स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह सगुण निराकार रूप ग्रहण कर लेता है। लेकिन सतो का सगुण निराकार स्वरूप भी तुलसी जसा सगुण नही, क्योकि वह तो लौकिक गुणो से अतीत ही है, इसीलिए मूलत हम उसे निर्गुण ही स्वीकार करते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का प्रसार है लेकिन वह स्वत अविकृत और निर्लिप्त रहता है। सृष्टि का एक मात्र उपादान और निमित्त कारण है। सतो की दृष्टि मे सृष्टि शकरवत मिथ्या नहीं वह सत्य है, क्योंकि सत्य ब्रह्म का ही प्रसार है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अथवा जीव भी उसी तरह सत्य है। वस्तुत आत्मा और परमात्मा मे उन्होने अशाशी सम्बन्ध को स्वीकार किया है। 'अग्नि-स्फुलिगवत' जीव मे ब्रह्म के सब गुण हैं उन्हें वह विकसित कर ब्रह्म से तादात्म्य और ऐक्य स्थापित कर अपने व्यक्तित्व को उसी मे तिरोहित कर सकता है। यह जीव के जीवन का लक्ष्य या साध्य है जो प्राप्त करना दुष्कर है लेकिन सतो ने मानव को सदा इसके प्रति सतर्क किया है और इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी तथा मार्ग को भी बताया है। इस भेद के आभास का कारण उन्होंने सर्पिणी माया को बताया है। वस्तुत माया ही जीव को भरमाकर इस ससार के प्रलोभनो मे फसा देती है और उसे लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर देती है। इन्द्रियो के वश मे होने के कारण जीव मूलत कचन और कामिनी का शिकार हो जाता है। लौकिक समृद्धि की चाह उसे सब प्रकार के दुष्कर्मों की प्रेरणा देती है और कामिनी मानव की वासनाओ को उभार कर उसके चित्त को मलिन कर देती है। सतों ने इनका विरोध नही किया अपितु इनका परिहार किया है। भरमाने वाली माया से जीव को सतर्क करते हुए उन्होंने अनावश्यक धन-

सद्गुरु को जहाँ बुरा बताया है वहीं पुनः कामिनी में लिप्त हो जाने की भी भरपट निन्दा की है। लेकिन धन और स्त्री का तो इन्हें बाधक मानना ही था। अपनी आजीविका अर्जित करते हुए भी गृहस्थ और सात्त्विक जीवन में अद्भुत सन्तुलन स्थापित किया हुआ था। इसीलिए कबीर को अपनी माँ के उलाहना का शिकार बनना पड़ा था। लेकिन भावात्मक धारणा में उनकी अपनी विचारधारा का त्याग नहीं किया था यही उनके व्यक्तित्व की महानता थी। वस्तुतः जहाँ एक बार इन सन्तों ने मायाग्नि हो दर-ब-दर का विरोध किया था, वहीं असमय आवा का भी उतना ही दृढ़तापूर्वक विरोध किया था। इसी प्रकार गृहस्थ में लिप्त गृहस्थियों और संन्यासियों — साधुओं दोनों का ही उन्होंने विरोध किया था। सच पूछा जाए तो इसी में उनके सहजपथ' का निर्माण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक नियमों को उन्होंने सहज रूप से अपनाया और क्रियात्मक जीवन के माध्यम से जन समाज को अपनाने का संदेश भी दिया है।

यह युग अन्तर्विरोधों का युग था। ज्ञानियों के ज्ञान मान ने उनके अहंकार को जाग्रत अवश्य किया था पर उनका बौद्धिक संतोष न कर सका। सन्तों ने ज्ञानाधारित सत्यों को वहाँ तक अपनाया जहाँ तक वे जीवन-व्यक्ति में बनाने वाले सिद्ध हुए। ज्ञान के अपनाए बिना उसकी बात करने वाले को उन्होंने धिक्कारा है। इसीलिए वेदों इत्यादि पुस्तकीय विद्या की निन्दा नहीं की अपितु समझ बिना अपनाने का राग अलापने वालों को आड़े हाथों लिया है। उनकी कृतियों में कहीं कहीं पुस्तकीय विद्या का विरोध भी प्रतीत होता है उसमें भी मूल भाव उसके ज्ञान को अपनाने वालों का ही विरोध है। अनुभूत्याधारित ज्ञान को इन्होंने सर्वत्र ही प्रश्रय दिया है।

जन समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से प्रसरित होने वाली भक्ति में उन्होंने भाव का अभाव पाया। इसीलिए भक्ति के बाह्य आवरण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए, परन्तु उसकी आन्तरिक शक्ति क्षीण होती गयी। संतों ने भावहीन आवरणों और आडम्बरों का जी भर कर विरोध किया। मूर्ति पूजा करने वालों को अन्तर में बैठी मूर्ति से परिचय कराया मंदिर जाने वालों को मन मन्दिर की याद दिलाई, कर का मनका फेरने वालों को मन का मनका' ला पकड़ाया तीर्थों में भ्रमण करने वालों को सद्गुरु रूपी तीर्थ के दर्शन करवाए गंगा स्नान करने वालों को अन्त स्नान का पाठ पढ़ाया, व्रत रखने वालों को वास्तविक व्रत का महत्व बताया। इन आवरणों के माध्यम

से भक्ति अपनाने म प्रयत्न दीला का भक्ति के मूल तत्त्व भावपूण 'नाम' का वरदान दिया। इस प्रकार भक्ति का भी उन्होने विरोध नही किया, अपितु उसे परिष्कृत रूप प्रदान कर सहज और स्वाभाविक बना दिया, ताकि जन सामा य भावपूण हृदय स बिना किसी आडम्बर क भी उसे अपना सके।

योगियो की जटिल दैहिक क्रियाओ म फस कर योग ने भी विकट रूप धारण कर लिया था। सतो ने इस जटिलता का विरोध कर उसे सहज मे अपनाया। जहा तक स्वास्थ्य रक्षा का सम्बन्ध है, उन्हाने सशक्त, स्वस्थ देह को निमित करने का सन्देश दिया है लेकिन विकत साधनाओ के माध्यम से उसे अनावश्यक रूप से कष्ट सहिष्णु बनाने का खुल कर विरोध किया है। केवल देह को कष्ट देकर यौगिक क्रियाओ के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म दशन से उन्होने असहमति प्रकट की है। इस प्रकार स्वस्थ व दीघ जीवन व्यतीत करने की दृष्टि से उन्होने देह का महत्त्व स्वीकार किया है, लेकिन सहज माग का त्याग करके नहीं।

सच पूछा जाए, तो उ होने एक बार फिर ज्ञान भक्ति और कम की एकागिता का विरोध कर तीना का उचित समाहार कर समन्वित जीवन दष्टि प्रस्तुत करन का प्रयत्न किया है। इस प्रकार तीना के विचारो से तग आकर धम पराङ्मुख होती हुई जनता को एक बार फिर धर्मो मुख किया। इस काय के लिए उनका सबसे बडा सहायक हुआ सद्गुरु। सन्ता ने इस बात को समझ लिया था कि अज्ञानी गुरुओ ने ही भोली भाली जनता को पथ भ्रष्ट किया हुआ है, इसीलिए उन्हाने सत्गुरु की बडी कठिन कसौटी रख दी लेकिन इसके साथ-साथ उसका महत्त्व भी अत्यधिक बढा दिया। सत्गुरु वही हो सकता है, जिसने खुद माग पा लिया है और जो ससार से ऊपर उठ चुका है अब जिसे केवल लोक कल्याण की लग्न है। इसी लिए उसका महत्त्व साध्य से भी अधिक हो गया क्योंकि इस साधन के बिना साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। सत्गुरु ने समाज को सत्कम का महत्त्व बताया। बिना सत्कर्मों के मानव का वह धरातल ही नही बन पाता जहा वह पारलौकिक जीवन की बात सोच सके। सत्कर्मों के माध्यम से मानव इतना औचित्यपरक बन जाता है कि 'नाम' प्राप्त करने का अधिकारी बन जाए। सत्गुरु का सबसे बडा वरदान नाम है। सासारिक जीव इस नाम के सहारे ही उस दिव्य और अलौकिक सत्ता से अपना सम्बन्ध जोडता है क्योंकि मूर्ति आदि उसके प्रतीक स्वरूप हैं और कोई साधन जीव के पास नहीं है। इस नाम से अनन्यता, एकाग्रता और अनवरत तल्लीनता भक्त को सफलता प्रदान

करने वाले विशिष्ट तत्व हैं। सतो ने 'नाम' को इतना महत्व दिया, इसी से इनके मार्ग को कइयो ने 'नाम मार्ग' तक ही संज्ञा प्रदान कर दी है। 'नाम' कोई भी हो, उसका महत्त्व उतना नहीं, जितना उसम अन्तर्निहित भाव का और नाम तो उस भाव को ही जागृत रखने का साधन मात्र है। सच पूछा जाए तो सद्गुरु और नाम को अर्जित नहीं किया जा सकता, यह तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है, और यह भगवत्कृपा कब प्राप्त हो यह कोई जान नहीं पाता। व्यक्ति भावपरायण होकर सत्कर्म करता चले, यदि उसके विश्वास म बल होगा, निश्चय म दृढ़ता होगी, भक्ति म अनन्यता होगी तो भगवत्कृपा भी कभी न कभी हो ही जाएगी और जब भगवत्कृपा हो गई तो कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। सतो ने एक स्वर से भगवत्कृपा को ही सब प्रधान साधन स्वीकार किया है। सत्कर्म सत्सगति, सद्गुरु प्राप्ति इसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सकते हैं इससे अधिक कुछ नहीं।

अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने आलकारिक चमत्कार मयी वाणी का आश्रय नहीं लिया, अपितु भाषा की सरलता स्पष्टता और शक्तिमत्ता ने ही उनकी बानी को साहित्यिकता प्रदान की है। न उनके मन म न उनकी विचारधारा म किसी प्रकार का दुराव छिपाव था, और न ही अभि व्यक्ति मे कोई वक्रता। हा उनके सीधे सादे परन्तु सशक्त व्यग्यो म आडम्बर वादियों को तिलमिला देने की अदभुत सामर्थ्य थी, वही उनकी अभिव्यक्ति की शक्ति है। इसका यह मतलब नहीं कि उनकी वाणी में नम्रता नहीं है। भगवान् के सम्मुख उनकी विनयिता की हद होता है। उनका अपना तो अस्तित्व ही नहीं रहता। वस्तुत उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नहीं भावधारा पालती रही है इसी से वह सहज, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन मन को प्रभावित करती है, इससे बढ़कर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है।

सत भावना किसी सम्प्रदाय विशेष मे आबद्ध नहीं हुई इसी लिए अन्याय सम्प्रदायो के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता जा रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, कर्म, अर्थ और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास ही अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहा किसी प्रकार का बन्धन न था, जाति या वर्ग बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। सतो की मान्यताओ का धरातल बडा व्यापक था। वस्तुत उनकी मान्यताओ की आधार भूमि एक ही थी, अत उन

पर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन दर्शन का विकास हुआ, उसके मूल तत्वों में कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्व का कारण इसकी सहज स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रियाकलापों को इसमें स्थान न देकर संतो ने इसे विशिष्ट नहीं होने दिया। बाह्य-आवरणों, आडम्बरों या कर्म काण्डों के अभाव ने इसे भाव प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार संकीर्णता के आधार स्तम्भों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और इसे भी शक्ति प्रदान की। समाज के किसी भी वर्ग से आने वाले चरित्रवान व्यक्ति ने इस हृत को अपनाया, यदि नहीं भी अपनाया, तो कम से कम इसका विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्रत्येक युग के, सभी वर्गों के चरित्रवान् व्यक्तियों का आश्रय पाकर यह सशक्त होती गई।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनैतिक अशांति के इस युग में आज राजनीतिज्ञों ने 'विश्व सरकार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई में जाकर मानव मानव को निकट लाने का प्रयत्न किया जाए तो वह मानवधर्म और कुछ नहीं, इन संतो की सामान्य मान्यताओं से उद्भूत निर्गुण चेतना का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है। धरा धाम का उद्धार करने वाले, मानव-मानव को एकता का संदेश देने वाले, जीवन में अलौकिक रस का संचार करने वाले, विश्व में शान्ति का प्रचार करने वाले संतो ने जिस मध्य-युगीन निर्गुण चेतना का विकास और प्रसार किया, उसने उन संतो को ही अमर कर दिया।

● ● ●